GL H 615.536
PAT

125781
LBSNAA

ला य प्रशासन अकादमी
L of Administration

मसूरी
MUSSOORIE

पुस्तकालय
LIBRARY

अवाप्ति संख्या
Accession No. 125781 ~~14101~~

वर्ग संख्या
Class No. GLH 615.536

पुस्तक संख्या
Book No. PAT पाठक

त्रिदोष-तत्त्वविमर्श

भूमिका-लेखक

आयुर्वेद मार्त्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

लेखक

वैद्य रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य

जी० ए० एम० एस० (पटना), एफ० ए० आई० एम० (मद्रास),

प्रिंसिपल, श्री अ० शि० आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय

प्रकाशक

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

कलकत्ता : पटना : झांसी : नागपुर

प्रथम बार] जून, सन् १९५० ई० [२॥=)

प्रकाशक

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०,

१, गुप्ता लेन, (जोड़ासांकू)

पोस्टबक्स नं० ६८३५

कलकत्ता - ६

सर्वाधिकार

प्रकाशक के अधीन

मुद्रक

पण्डित हजारीलाल शर्मा

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०

३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट,

कलकत्ता - ७

प्रकाशकीय निवेदन

आयुर्वेद-संसार के सुप्रसिद्ध विद्वान् और शिक्षक वैद्यराज पं० रामरक्ष जी पाठक, आयुर्वेदाचार्य, प्रिन्सिपल, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय, का 'त्रिदोष-तत्त्वविमर्श' आयुर्वेद-संसार के सम्मुख रखते हुए हमें इसलिए हर्ष होता है कि आधुनिक ढंग से आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम के निर्माण में एक कदम और उठाने में हम समर्थ हुए हैं।

पुस्तक के सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ विशेष कहना नहीं

चाहते। आयुर्वेद-संसार ने वैद्यराज पाठक जी की अन्य पुस्तकों का जैसा स्वागत किया है, उसको देखते हुए प्रस्तुत पुस्तक के समादर के बारे में हमें कोई संशय नहीं है। आयुर्वेद के विद्यार्थियों और विद्वत्-समाज के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

अन्यान्य बैद्यनाथ प्रकाशनों की श्रेणी में एक और ग्रन्थ-रत्न की अभिवृद्धि इस 'त्रिदोष-तत्त्वविमर्श' के द्वारा हो रही है, इसके लिये हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

कलकत्ता
१०-६-'५०

व्यवस्थापक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

भूमिका

भारतीय दार्शनिकों और वैद्यों का मत है कि समग्र चराचर सृष्टि के मूल कारण—आकाश (नभस्), वायु, तेज (अग्नि), अप् (जल) और पृथ्वी—ये पञ्चभूत हैं। इन पञ्चभूतों के न्यूनाधिक भाव से—विशिष्ट संयोग तथा प्रकृति समसमवाय (Physical Mixture) या विकृति विषम समवाय (Chemical Composition) से संसार के सब विविध पदार्थों की उत्पत्ति और उनके विविध व्यापार होते हैं। यद्यपि सब द्रव्य पञ्चभूतोत्पन्न हैं, तथापि 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय के अनुसार, जिन द्रव्यों में आकाश के गुण-कर्म अधिक थे, उनका आकाशीय (नाभस), जिन द्रव्यों में वायु के गुण-कर्म अधिक थे, उनका वायव्य, जिनमें तेज (अग्नि) के गुण-कर्म अधिक थे, उनका तेजस (आग्नेय), जिनमें अप् के गुण-कर्म अधिक थे, उनका आप्य तथा जिनमें पृथ्वी के गुण-कर्म अधिक थे, उनका पार्थिव नाम रखकर व्यवहारसौकर्य के लिए सृष्टि के समस्त द्रव्यों का उन्होंने—पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और नाभस—इन पाँच वर्गों में वर्गीकरण किया है। तत्तत् वर्ग के द्रव्यों में तत्तत् महाभूत की अधिकता का निर्णय तत्तत् महाभूत के गुण-कर्मों की अधिकतानुसार किया गया है। जैसे सृष्टि के समस्त पदार्थ पाञ्चभौतिक हैं, वैसे मनुष्यादि सब प्राणियों के शरीर भी पाञ्चभौतिक हैं; तथापि व्यवहारसौकर्य के लिये शरीर की प्राकृत क्रियाएँ, शरीरावयवों की विकृति (रोग) और रोगनिवारण की दृष्टि से शरीरस्थ सब पदार्थों का (जो उस समय आविष्कृत—ज्ञात—थे, उनका) वात (वात वर्ग), पित्त (पित्त वर्ग) और कफ (कफ वर्ग)—इन तीन वर्गों में वर्गीकरण किया है। शरीर में वात वायु (और आकाश) महा-

भूत का, पित्त अग्नि महाभूत का और कफ जल (और पृथ्वी) महाभूत का प्रतीक (स्थानापन्न, प्रतिनिधि) है।

बाह्य जगत् में जो क्रियाएँ वायु महाभूत द्वारा होती हैं, प्राणिशरीर में वे सब क्रियाएँ वातधातु द्वारा होती हैं; बाह्य जगत् में जो क्रियाएँ तेज महाभूत द्वारा होती हैं, प्राणिशरीर में वे सब क्रियाएँ पित्तधातु द्वारा होती हैं और बाह्य जगत् में जो क्रियाएँ जल महाभूत द्वारा होती हैं, प्राणिशरीर में वे सब क्रियाएँ कफ धातु द्वारा होती हैं। जैसे पाञ्च-भौतिक वर्गीकरण में, सृष्टि के सब पदार्थ पाञ्चभौतिक होने पर भी, एक-एक महाभूत के गुण-कर्मों की अधिकतानुसार उनका पार्थिवादि पाँच वर्गों में वर्गीकरण किया गया है, वैसे ही त्रिधातुवर्गीकरण में, प्राणि-शरीरस्थ सब पदार्थ त्रिधात्वात्मक होने पर भी, एक-एक धातु के गुण-कर्मों की अधिकतानुसार वात वर्ग, पित्त वर्ग और कफ वर्ग में उनका वर्गी-करण किया गया है। सारांश कि प्राचीन भारतीय वैद्यों ने सृष्टि के समग्र पदार्थों को—पार्थिव, आप्य, तैसज, वायव्य और नाभस—इन पाँच वर्गों तथा प्राणिशरीरस्थ सम्पूर्ण पदार्थों को—वात, पित्त और कफ—इन तीन वर्गों में विभक्त करके इन दोनों वर्गीकरणों* की आधारशिला (नींव)

---

* अनेक पदार्थों को संक्षेप में और सरलता से समझने-समझाने के लिये समान धर्म (गुण-कर्म) वाले अनेक पदार्थों के थोड़े से वर्ग बनाये जाते हैं। एकजातीय द्रव्यों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरणतः—वनस्पतियों का उद्भिज्जशास्त्री (Botanist) उनकी रचनानुसार वर्गीकरण करता है, तो चिकित्सक उनके गुण-कर्मानुसार उनका वर्गीकरण करता है। भारतीय दार्शनिकों ने सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों का पञ्चमहाभूतों में और वैद्यों ने प्राणिदेहस्थ समस्त द्रव्यों का त्रिधातु में वर्गीकरण किया है।

पर अपने चिकित्साशास्त्र का प्रासाद खड़ा किया है। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology), द्रव्य-गुण-विज्ञान, रोग-विज्ञान और चिकित्सा ये विषय इन दोनों वर्गीकरणों के आधार पर लिखे गये हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर पञ्चमहाभूत और त्रिधातु (त्रिदोष) का विचार करने से ही उनका वास्तविक स्वरूप ध्यान में आ सकता है।

त्रिदोष के विषय में सामान्य निर्देश करने के अनन्तर प्रस्तुत ग्रन्थ, 'त्रिदोषतत्त्वविमर्श' के विषय में दो शब्द लिखना उचित समझता हूँ। इस ग्रन्थ में वात-पित्त-कफ--ये मनुष्य शरीरस्थ अनेक द्रव्यों के तीन वर्ग हैं—इस तथ्य को ध्यान में रखकर वात-पित्त-कफ का सामान्य स्वरूप, इनके प्राचीन ग्रन्थोक्त भेद, प्रत्येक भेद का प्रधान स्थान (कार्यक्षेत्र) और उनकी क्रियाओं का सविस्तर वर्णन किया गया है। साथ-साथ में विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए आधुनिक शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिजियोलोजी) के साथ तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है। वात-पित्त-कफ के प्राचीन ग्रन्थों में जो भेद वर्णित हैं, वे उस समय में विशेष रूप से आविष्कृत (ज्ञात) हुए भेद हैं। आधुनिक क्रियाशारीर में इनके अतिरिक्त दूसरे अनेक द्रव्यों का वर्णन पाया जाता है। प्राचीन ग्रन्थोक्त भेदों में कुछ दोषों के भेद स्वतन्त्र नहीं, परन्तु अनेक अवान्तर भेदों के वर्ग हैं। जैसे—पाचक पित्त, दोषों के स्थान और कर्मों के विषय में संहिताग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, उसमें कहीं-कहीं विभिन्नता पायी जाती है। इन सब विषयों का भी इस ग्रन्थ में विचार किया गया है। त्रिधातु-वर्गीकरण की रोग-विज्ञान और चिकित्सा में क्या उपयुक्तता है और दोषलक्षणानुसार निदान और चिकित्सा करने में कितना सौकर्य है, इस विषय का विवेचन करना भी इस विषय के ग्रन्थों में आवश्यक है।

इस पुस्तक (त्रिदोषतत्त्वविमर्श) के लेखक आयुर्वेदाचार्य पं० रामरक्षजी

पाठक एक सिद्धहस्त और प्रसिद्ध लेखक हैं। आपने पदार्थविज्ञान आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। पाठकजी का यह ग्रन्थ त्रिदोषतत्त्व के जिज्ञासु वैद्यों, आयुर्वेदाध्यापकों और आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिये उपयुक्त होगा, ऐसी आशा है। आशा है कि पाठकजी ऐसे अन्य भी उपयुक्त ग्रन्थ लिख कर आयुर्वेद की सेवा करते रहेंगे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के संचालक वैद्यराज पं० रामनारायणजी को भी मैं अनेक धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ, कि वे ऐसे समयोपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित करके आयुर्वेद की सेवा करते रहेंगे।

डा० विगास स्ट्रीट,
बंबई

—वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

प्रस्तावना

मानव शरीर भी अन्य पदार्थों की भाँति नाना रूपात्मक है और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इसकी भिन्न-भिन्न समीक्षा की गई है। प्रत्येक गवेषक अपनी गवेषणानुसार एक ही विषय का भिन्न-भिन्न रूप में वर्णन कर सकता है। अतः एक ही विषय के लिये शास्त्रों में अनेक विवरण उपलब्ध होना स्वाभाविक है। यह विभिन्न विवरण अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य, शिव और सुन्दर हैं। यह विशेषता खासकर प्राचीन भारतीय साहित्य में सभी शाखाओं में प्रचुर रूप में पायी जाती है। इसका कारण यह है कि सब प्रकार के ज्ञानों का संचय करना तथा उनमें सामञ्जस्य उपस्थित करना भारतीय विद्वानों की विशेषता रही है। प्राचीन काल में कोई भी विचारधारा व्यर्थ नहीं समझी जाती थी। अतः ऐसी परिस्थिति में जिज्ञासु जन का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने अभीष्ट सिद्ध्यर्थ सब से व्यावहारिक, युक्तियुक्त और प्रासंगिक विवरण को चुन ले और शेष को उसके लिये विशेषोपयोगी न होने के कारण पृथक् कर दे। आयुर्वेद, जो वेद का एक अङ्ग माना गया है और जो संसार के प्राचीन साहित्यों में से एक है, इस नियम का अपवाद नहीं। जब हम स्मरण करते हैं कि वेद दुनिया के सभी ज्ञानों का अक्षय भाण्डार है और आयुर्वेद भी उसीका एक अङ्ग या उपाङ्ग है, तो हमें उसके उपदेशों पर किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता है और उसमें अगाध श्रद्धा हो जाती है। परन्तु वैदिक काल के बाद से अब तक अनेक युगपरिवर्तनों को देखने का अवसर आयुर्वेद को प्राप्त हुआ है; अतः उन युगकालिक भारतीय दर्शनों का प्रभाव

आयुर्वेद पर न पड़ा हो और उनके विचारों से संक्रान्त न हुआ हो यह संभव नहीं। यही कारण है कि आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में भी भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न विचारों की उपलब्धि होती है। अतः हमें चाहिए कि इन भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का वर्गीकरण कर, जो अपने लिए युक्ति-संगत एवं प्रासंगिक विचारधारा हो उसे अपनावें। आयुर्वेद के उपलब्ध संहिता ग्रन्थ विभिन्न काल में आवश्यकतानुसार हुई गोष्ठियों की कार्यवाहियाँ हैं; अतः उनके अन्दर प्रसंगवश आयुर्वेद के विचारों का होना अस्वाभाविक तथा युक्ति-विरुद्ध नहीं।

आयुर्वेद में मानव शरीर का वर्णन उभय रूप में मिलता है—स्थूल शरीर का वर्णन तथा सूक्ष्म शरीर का वर्णन। इसके अतिरिक्त बाह्य शरीर तथा आभ्यन्तर शरीर का भी वर्णन मिलता है। आधुनिक शरीर-शास्त्रवेत्ताओं ने भी उसी पथ का अनुसरण किया है। दोनो प्रकार की विचारधाराओं में, उनके भिन्न लक्ष्यबिन्दु के अनुसार, किसी-किसी स्थल पर बहुत अन्तर पड़ सकता है। अतः प्राचीन भारतीय लक्ष्यबिन्दु को ठीक-ठीक समझनेके लिए हमें अपने को उसी स्थिति में रखना पड़ेगा जिसमें हमारे आचार्यगण थे; और तब हमें पता चलेगा कि उनकी विचारधारा कितनी सत्य, शिव और सुन्दर है। यहीं तक नहीं, हम तो कहेंगे कि हमारे आचार्यों की विचारधाराएँ आज के वैज्ञानिकों की विचारधारा से समता ही नहीं रखतीं, वरन् कई स्थलों पर अधिक उपादेय और वैज्ञानिक प्रतीत होती हैं। काल के करालचक्रवश हमारे साहित्य के अधिक अंश लुप्त हो जाने से स्थूल शरीर का वर्णन बहुत विकल रूप में उपलब्ध है पर सूक्ष्म शरीर का वर्णन आज भी अपना सानी नहीं रखता। स्थूल शरीर के बाह्य तथा आभ्यन्तर

आधुनिक वर्णनों से हम पुनः अपने को सफल बना सकते हैं, परन्तु आयुर्वेदीय शरीर-वर्णन के मौलिक भेदों के ज्ञान के बिना आधुनिक का सम्मिश्रण 'विनायकम् प्रकुर्वाणो रचयामास वानरं' की उक्ति को चरितार्थ कर देगा।

अतः ऐसी परिस्थिति में हमें आयुर्वेद के शरीर वर्णन के मौलिक सिद्धान्तों को सर्वप्रथम समझना होगा ; तभी उक्त कार्य को सम्पन्न करनेमें हम कृतकार्य हो सकेंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय साहित्य के अन्दर विज्ञान का अन्य दर्शनादि साहित्यों से बटवारा नहीं हुआ है। विज्ञान भारतीय दर्शन में ही अन्तर्लीन है अतः चिकित्सा, जो एक विज्ञान है, उसकी पृष्ठभूमि भी भारतीय दर्शन में ही है। आयुर्वेद 'दोष-धातु-मल-मूलं हि शरीरम्' इस सूत्र द्वारा यह प्रदर्शित करता है कि मानव शरीर दोष, धातु और मल के अतिरिक्त और कुछ नहीं। आगे चलकर 'वात-पित्त-श्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः' इस सूत्र द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि यह शरीर वात, पित्त और कफ का बना हुआ है। अर्थात् मानव शरीर का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव भी वात-पित्त-कफ—इन तीन उपादानों का बना हुआ है। मानव शरीर पाञ्चभौतिक ही है। वायु तथा आकाश की उल्वणता से वात धातु, अग्नि की उल्वणता से पित्त धातु तथा पृथ्वी और जल की उल्वणता से कफ धातु की उत्पत्ति होती है। पञ्चमहाभूत भी प्रकृति का ही परिणमित रूप है और प्रकृति सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था को कहते हैं। अतः इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणाम त्रिगुणात्मक पञ्चमहाभूत से उद्भूत वात-पित्त-कफ धातु भी त्रिगुणात्मक ही होंगे। इसलिये वात धातु को रजोबहुल, पित्त धातु को सत्त्वबहुल और कफ धातु को तमोबहुल आचार्यों ने कहा है।

उपर्युक्त वर्णन हमें यह संकेत करता है कि जब तक सांख्य के सृष्टितत्त्व का आयुर्वेद के जिज्ञासु को ज्ञान नहीं होगा तब तक आयुर्वेदोक्त मानव शरीर के मूलभूत उपादान वात-पित्त-कफ का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः आयुर्वेद के सृष्टिप्रकरण के ज्ञान के लिये सांख्य का ज्ञान परमावश्यक है। सांख्य दर्शन के ज्ञान के बाद सूक्ष्म शरीर का ज्ञान तथा स्थूल शरीर के मूलभूत उपादान वात-पित्त-कफ का ज्ञान सहज ही हो जायगा। परन्तु सूक्ष्म शरीर के ज्ञानमात्र से आयुर्वेद या चिकित्सा के उभयलक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सूक्ष्म ज्ञानोपरान्त स्थूल ज्ञान में आना आवश्यक है। चिकित्सा का अधिक कार्य स्थूल शरीर पर ही होता है। इसलिये स्थूल शरीर रचना को भी हमें देखना और समझना पड़ेगा। आधुनिक विज्ञान ने इस दिशा में पर्याप्त प्रगति की है। अतः हमें वहाँ से उन तथ्यों को लेकर अपने रूप में ढालना होगा। आधुनिक विज्ञान के शरीर रचना सम्बन्धी विवरणों के देखने से पता चलता है कि आधुनिक शरीराणुओं (cells) की रचना प्राचीन शरीरोक्त वात, पित्त, कफ रूपी मूल भूतोपादानों का स्पष्टीकरण मात्र है। त्रिदोष तत्त्व के पाठकों को यह तथ्य इसके अध्ययन से प्रमाणित हो जायगा।

स्थूल शरीर के पूर्ण विवरण या रचना को जानने के लिये आधुनिक शरीर रचना विज्ञान का ज्ञान तथा उनके त्रिधातुओं का सम्बन्ध निर्णय परमाश्यक है। ऐसी परिस्थिति में हमें विज्ञान जगत् के सामने आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त तथा मानव-शरीर के मूलभूत आद्य उपादान त्रिधातु (वात-पित्त-कफ) को इस रूप में स्पष्ट करना होगा जिससे वह सबों के लिए बुद्धिगम्य हो सके और उसका सामञ्जस्य प्रकृति विज्ञान (Physiology), विकृति विज्ञान (Pathology), तथा स्वास्थ्य विज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान

से बैठ सके। आधुनिक शारीर रचना विज्ञान एक प्रत्यक्षीकृत विज्ञान है। अतः उसके साथ भी इस त्रिधातु विज्ञान का, जो कृतसाक्षात्धर्म्मा ऋषियों द्वारा आविष्कृत शिष्टानुमत शास्त्रवाद है, कोई विरोध नहीं होना चाहिये। आधुनिक मानव शारीर रचना का अध्ययन इस सिद्धान्त को और भी पुष्ट करता है, ऐसी मेरी मान्यता है।

आयुर्वेद में त्रिदोष या त्रिधातु का विचार करने के पूर्व पञ्चमहाभूतों का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है। क्योंकि आयुर्वेद के मत से मनुष्य-शरीर आत्मा और पञ्चमहाभूतों के संयोग से बना हुआ है। इसलिये आयुर्वेद-शास्त्र में पहले पञ्चमहाभूतों का विवेचन कर पुनः त्रिदोष या त्रिधातु का विवेचन किया गया है। शरीर और शरीरोपयोगी सभी द्रव्य पाञ्च-भौतिक हैं। जिस पुंबीज और स्त्रीबीज से मनुष्य शरीर की उत्पत्ति होती है, ये बीज तथा स्थूल शरीर और इन्द्रिय आदि सब पञ्चमहाभूतों की विकार-समष्टि से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् यह शरीर अनेक पाञ्चभौतिक द्रव्यों की विकार-समष्टि रूप है। भगवान पुनर्वसु ने स्पष्ट रूप से कहा है—

"गर्भस्तु खल्वन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः। एव-मनया युक्त्या पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधिष्ठानभूतः।" (च० शा० अ० ४)। अतः उन अनेक भौतिक द्रव्यों को न समझ कर शरीर की उत्पत्ति, स्थिति तथा शरीर की प्राकृत क्रिया और शरीर के विकार आदि का समझना असम्भव हो जाता है। साथ ही उन्हें एक-एक करके समझना भी अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतः शास्त्रकारों ने शारीरिक अनेक द्रव्यों को तीन वर्गों में विभक्त कर समझाने का सफल प्रयत्न किया है। जैसे—(१) दोष वर्ग, (२) धातु वर्ग और (३) मल वर्ग, (दोषधातु-

मलमूलं हि शरीरम्)। दोष वर्ग में संक्षेप से वायु, पित्त और कफ का ग्रहण किया जाता है। धातु वर्ग में रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात द्रव्य हैं। मल वर्ग में विट्, मूत्र, स्वेद, नख, रोम आदि हैं। इन तीनों वर्गों में भी दोष वर्ग अर्थात् वायु, पित्त और कफ ये तीन द्रव्य अधिक क्रियाशील (शक्ति सम्पन्न) हैं। ये तीनों अविकृत रहें तो शरीर का धारण करते हैं और विकृत हो जायं तो शरीर को दूषित करके विकार-युक्त या नष्ट कर देते हैं।

सृष्टिकाल में किसी भूत या महाभूत से साक्षात् रूप में कुछ उत्पन्न नहीं होता। सृष्टि के प्रारम्भ में ही सूक्ष्म भूतों से महाभूत उत्पन्न हो कर परस्पर मिल जाते हैं। सृष्टिकाल में इस तरह आपस में मिलित पञ्च महाभूतों से ही भौतिक द्रव्यों की सृष्टि होती है। शरीर भी अनेक द्रव्यों की समष्टि से बनता है। इसलिये उसे 'पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मक' कहा गया है। किन्तु चेतन (सेन्द्रिय) सृष्टि में पाँचों भूतों के अतिरिक्त छठी चेतना धातु (आत्मा) भी मिली रहती है। अतः सामान्य चेतना-विहीन जड़ जगत की अपेक्षया यहाँ का भौतिक सङ्गठन भी रचना और क्रिया की दृष्टि से कुछ विशेष प्रकार का होता है। त्रिदोष की उत्पत्ति का मूल यह विशेष सङ्गठन ही है। क्योंकि इसमें सक्रिय रूप से भाग लेनेवाले तीन ही भूत प्रधान हैं। विभाजन रूप गति, पाकादि रूप सन्ताप तथा संश्लेषणादि रूप आलिङ्गन, ये वायु, अग्नि और जल इन्हीं के क्रमशः कार्य हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक सचेतन पाञ्चभौतिक द्रव्य में चाहे वह देह-परमाणु (Cell) रूप में हो अथवा स्थूल धात्वादि रूप हो, ये त्रिदोष विद्यमान रहते हैं और आयुर्वेद की दृष्टि से इन पाञ्चभौतिक रचनाओं को हम

'त्रिधात्वात्मक' कहें तो भी अयुक्तियुक्त नहीं होगा। इसीसे आचार्यों ने 'वात-पित्त-श्लेष्माण एव देह-सम्भव-हेतवः' ऐसा कहा है। शरीरारम्भक शुक्र (पुंबीज) और आर्त्तव (स्त्रीबीज) जो स्वयं सचेतन पाञ्चभौतिक परमाणु (सेल) विशेष हैं, उन में ये त्रिदोष पहले से ही उपस्थित रहते हैं। अतएव कहा गया है कि—शुक्रशोणितसंयोगे यो भवद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन·····। (सु० सू० अ० ४)। अर्थात् शरीरारम्भक शुक्र और आर्त्तव में जिस दोष की मात्रा अधिक होती है उसी के अनुसार प्रकृति बनती है। ये दोष ही शुक्रार्त्तव संयोग में विशेष क्रियाशील हो कर विभजन, पक्ति, संश्लेषण आदि क्रियाओं के द्वारा असंख्य भौतिक या त्रिधात्वात्मक शरीर-परमाणुओं (Cells) का निर्माण करते हैं। जो आगे चल कर स्वभाव या संस्कारानुवृत्ति के कारण भिन्न-भिन्न रस, रूपादि धातुओं या अङ्ग-प्रत्यङ्ग, कोष्ठांगों के रूप में व्यवस्थित (परिणत) हो जाते हैं। पुनः ये वातादि दोष इन्हीं को अधिष्ठान बना कर शरीर की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को करते हैं। इसलिये शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं को दोष मान कर उन्हीं के नाम से आयुर्वेद में उनका वर्णन किया गया है, अङ्ग विशेष का कार्य मान कर नहीं। कार्य की दृष्टि से अङ्ग-विशेषों की शास्त्र में जो उपेक्षा मिलती है उनका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है। फिर भी आश्रय आदि भेद से होनेवाली क्रियाओं को समझाने के लिये दोषों के पञ्चधा विभाग करके उनके विभिन्न अधिष्ठान का भी शास्त्र में वर्णन मिलता है।

इस त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श नामक पुस्तक में आर्ष ग्रन्थों के सूत्र-रूपेण उपदिष्ट तथ्यों का स्पष्टीकरण आंधुनिक अन्वेषणों की सहायता से किया गया है और अयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त त्रिदोष या त्रिधातु की व्यापकता और

सार्थकता को सिद्ध किया गया है। त्रिदोष के धातु-स्वरूप का अविकल रूपमें परिचय देना, उनके स्थान का निर्देश, तथा उनका द्रव्यत्व प्रतिपादन कर उनके कर्मों की युक्तियुक्त समीक्षा ही इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है।

वर्त्तमानकालिक विभिन्न पाठन शैली तथा पाठ्यक्रमों के कारण तथा आयुर्वेद के उक्त मूलभूत सिद्धान्तों के अध्यापनार्थ पुस्तकों के अभाव के कारण आयुर्वेद के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति को आयुर्वेद के स्तम्भभूत त्रिधातु सिद्धान्त से विचलित देख यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि इस विषय पर कुछ विचार-विमर्श किया जाय और परिणामस्वरूप आज यह पुस्तक पाठकों के समक्ष उपस्थित हुई है। यदि इस पुस्तक के अध्ययन से आयुर्वेद-जिज्ञासुओं को त्रिदोष-तत्त्व के विमर्श में कुछ भी सहायता मिली तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

पुस्तक प्रणयन में आर्ष ग्रन्थों के अतिरिक्त जिन-जिन ग्रन्थों की सहायता मिली है मैं उनके लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शन करता हूँ। इन पुस्तकों में श्री पं० धर्म्मदत्तजी का त्रिदोष-विमर्श, वैद्य रणजतिरायजी का शरीर-क्रिया-विज्ञान, दात्तार वामन शास्त्रीजी का त्रिदोष-त्रिधातु-विवेचन, तथा त्रिदोष-पञ्चमहाभूत परिषद् की रिपोर्ट विशेषोल्लेखनीय हैं। अन्य आधुनिक त्रिदोष पर प्रकाशित पुस्तकों के सभी लेखक मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। इसके अतिरिक्त मेरे सभी छात्र जिनके अध्यापनार्थ इस विषय के अन्वेषण में मुझे प्रेरणा मिली है वे सब मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। तपस्वी बाबा साहेब डा० नरहरि शिवराम पराञ्जपे, जिनकी सतत प्रेरणा तथा सदुपदेशों ने त्रिदोष-तत्त्वावलोकन में समर्थ बनाया है वे सर्वाधिक हमारे स्तुत्य हैं।

अ० शि० आ० कालेज
बेगूसराय
ता० २, ५, ५०

—वैद्य रामरक्ष पाठक

समर्पण

बिहार में आयुर्वेद की प्रतिष्ठा स्थापित करनेवाले, प्रान्त के वैद्यों को एक सूत्र में सूत्रित करने के उद्देश्य से प्रान्तीय वैद्य-सम्मेलन को सुगठित करनेवाले, परम यशस्वी, आयुर्वेद-कृतैकप्राणा, प्रातःस्मरणीय, गुरुप्रवर, आयुर्वेद-रत्नाकर पं० व्रजविहारी चतुर्वेदी वैद्यरत्न, पं० रामावतार मिश्र आयुर्वेद-भूषण, तथा पं० श्रीकान्त शर्मा वैद्यराज की पुण्य स्मृति में सादर समर्पित।

अनुक्रमणिका

पहला अध्याय १—४९

त्रिदोष का स्वरूप-निर्णय

वातादि की निरुक्ति

वातधातु का स्वरूप, गुण और कर्म—वायु के प्रकार—वायुद्रव्य के प्रकार—प्राण वायु—उदान वायु—समान वायु—अपान वायु—व्यान वायु—वायुधर्म के प्रकार

पित्तधातु का स्वरूप, गुण और कर्म—पित्त के प्रकार—पाचक पित्त—मुखगत पाचक पित्त—आमाशयस्थ पाचक पित्त—यकृत पाचक पित्त (Bile)—क्लोम पाचक पित्त (Pancreatic juice)—क्षुद्रान्त्रस्थ पाचक पित्त (Succus entericus)—रञ्जक पित्त—लोहित रञ्जक पित्त—क्षुद्रान्त्रस्थ रञ्जक पित्त—वसारञ्जक पित्त—त्वक्रञ्जक पित्त—नेत्ररञ्जक पित्त—केशरञ्जक पित्त—साधक पित्त—आलोचक पित्त—भ्राजक पित्त

कफधातु का स्वरूप, गुण और कर्म—कफ के प्रकार—क्लेदक कफ—आमाशयगत क्लेदक कफ—क्षुद्रान्त्रगत क्लेदक कफ—बृहदन्त्र-

गत क्लेदक कफ—अवलम्बक कफ—बोधक कफ—तर्पक कफ—श्लेषक कफ ॥

दूसरा अध्याय ५०—७०

त्रिदोष का द्रव्यत्व-प्रतिपादन

दोषों का पाञ्चभौतिकत्व—दोषों का संख्यावत्व—दोषों का अवयवत्व—दोषों का द्विधावस्थावत्व—केदार कुल्या न्याय—खले कपोत न्याय—दोषों का अवकाशपूरकत्व—दोषों का भारपरिमाणत्व या गुरुत्व—दोषों का मूर्त्तत्व—दोषों का इन्द्रियग्राह्यत्व ॥

तीसरा अध्याय ७१—९१

वात-पित्त-कफ का स्थान-निर्देश

वात का स्थान—प्राण वायु का स्थान—उदान वायु का स्थान—समान वायु का स्थान—व्यान वायु का स्थान—अपान वायु का स्थान

पित्त का स्थान—पाचक पित्त का स्थान—रञ्जक पित्त का स्थान—साधक पित्त का स्थान—आलोचक पित्त का स्थान—भ्राजक पित्त का स्थान

कफ का स्थान—बोधक कफ का स्थान—तर्पक कफ का स्थान—अवलम्बक कफ का स्थान—

क्लेदक कफ का स्थान—श्लेषक कफ का स्थान ॥

चौथा अध्याय ९७—१४८

वात-पित्त-कफ के प्रकृत कार्य

देहपरमाणु और त्रिदोष (त्रिधातु)—देहपरमाणुओं का परिचय—देहपरमाणुओं का विभाजन—देहपरमाणुओं की रचना

त्रिधातु और मानव-शरीर के कर्मकारी भिन्न-भिन्न संस्थान—संस्थानों के कार्य—मानव-शरीर एक शृङ्खलाबद्ध साम्राज्य है—वात-पित्त-कफ शरीर के आरोग्य के मूल कारण हैं

वात-पित्त-कफ मानव-प्रकृति के निर्मायक—तीनों दोषों का साम्य स्वस्थ प्रकृति का लक्षण—प्रकृतियाँ आजन्म बनी रहती हैं—वात-पित्त-कफ से ही चार प्रकार की अग्नि—वात-पित्त-कफ से ही तीन प्रकार के कोष्ठ—पित्त-प्रकृति पुरुष के लक्षण—कफ-प्रकृति पुरुष के लक्षण—वात-प्रकृति पुरुष के लक्षण

प्रकृतियों पर आधुनिक विचार—प्रकृतियों का बहुसम्मत कारण—प्रकृतियों के प्राचीनोक्त तथा आधुनिकोक्त कारणों में साम्य—अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ और त्रिधातु—चुल्लिका

ग्रन्थि (Thyroid gland)—परिचुल्लिका ग्रन्थि (Para-thyroid gland)—थायमस ग्रन्थि (Thymus)—वृषण—अन्तःफल, बीजपुट तथा बीजपुटकिण—अपरा (Placenta)—अग्न्याशय (Pancreas) —अधिवृक्क ग्रन्थि (Suprarenal gland)—पोषणिका ग्रन्थि (Pituitary gland) पोषणिका के पश्चिम खण्ड के कार्य—पोषणिका के अग्रखण्ड के कार्य ॥

पाँचवाँ अध्याय १४९—१८२

प्रकृत पित्त के कार्यों का वर्णन

पाचक पित्त का कार्य—धात्वग्नि—तीन अवस्था-पाक—लाला-ग्रन्थियाँ—अम्ल अवस्था-पाक—आमाशयरस का कार्य—पच्यमानाशय में पाक—अग्न्याशय—अग्निरस के कार्य—अन्त्ररस के कार्य—कटु अवस्था-पाक

रञ्जक पित्त के कार्य—रक्त-कण—रक्त का उत्पत्तिस्थान—विशुद्ध रक्त का स्वरूप

साधक पित्त

आलोचक पित्त—धर्ममण्डल (Conjunctiva)—श्वेत मण्डल या शुक्ल मण्डल (Sclera) —स्वच्छ मण्डल (Cornea)—कृष्ण

मण्डल—तारामण्डल तथा कनीनक—अक्षिकाच या मणि—सन्धान-मण्डल--दृष्टि-मण्डल--दर्शन-केन्द्र--अन्ध-बिन्दु--नेत्र-जल

भ्राजक पित्त ॥

छठा अध्याय १८३—२१६

प्रकृत कफ के कार्यों का वर्णन

क्लेदक कफ के कार्य

अवलम्बक कफ के कार्य

बोधक कफ के कार्य—रसज्ञान

तर्पक कफ के कार्य

श्लेषक कफ के कार्य—कला

कफ तथा ओज—ओज के गुण—ओज के कर्म—ओज के प्रकार—ओज की पृथक् गणना का कारण—पर (प्रधान) ओज——व्यापक अर्थ में 'ओज' शब्द—रस-ग्रन्थियाँ—रोगज क्षमता—युक्तिकृत क्षमता ॥

सातवाँ अध्याय २१७—२५२

प्रकृत वात के कार्यों का वर्णन

प्राणवायु के कार्य—उदान वायु के कार्य—समान वायु के कार्य—व्यान वायु के कार्य—अपान वायु के कार्य

वातसंस्थान या नाड़ीसंस्थान—इन्द्रियाँ तथा नाड़ी-संस्थान—शब्दज्ञान का द्वार श्रोत्र—मध्य कर्ण—पटहपुरणिका—अन्तःकर्ण या कान्तारक—शुण्डिकाओं के कार्य—स्पर्शज्ञान के द्वार—रूपज्ञान के द्वार—रसज्ञान के द्वार—गन्धज्ञान के द्वार—प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ—नाड़ीसंस्थान के दो विभाग—मस्तिष्क—सौषुम्णिक नाड़ीसंस्थान के विभाग—सुषुम्णा—शुभ्र तथा धूसर धातु-प्रसाद—मस्तिष्क के कार्य—धम्मिल्लक (अनुमस्तिष्क) के कार्य—सुषुम्णा शीर्षक के कार्य—शीर्षण्य नाड़ियाँ—सुषुम्णा-काण्ड के कार्य—सुषुम्णा की रचना—सौषुम्णिक नाड़ियाँ—स्वतन्त्र नाड़ी-संस्थान—मध्यस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थान—परिस्वतन्त्र नाड़ी-संस्थान—नाड़ीसंस्थान और पञ्चविध वायु ॥

शुद्धिपत्र

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध पद	शुद्ध पद
३	१३	प्रकृति तथा विकृति	प्रकृत तथा विकृत
९	१४	olthygen	oxygen
१९	१४	enzymer	enzymes
२७	६	intricus	entericus
३३	९	मूर्च्छायान्	मूर्च्छायं
३५	६	विकार	विवर
४९	३	अवयवों (cells)	अवयव (cell)
,,	७	mulis	mucin
५३	१०	सर्वथा	सर्वदा
५६	७	मसीन	मशीन
,,	१४	सुश्रुत	शार्ङ्गधर
,,	२०	प्राणभृतां	प्राणीनां
५७	६	सम्मत्र	सम्मत्र
५९	८	कारणगुणात् कार्यगुणमारभते	कारणगुणाः कार्यगुणा-नारभते
६०	११	पुष्टी	पुष्टि
६१	१०	call	cell
६२	१	Micro cope	Microscope
,,	२०	समीपवर्त्ति	समीपवर्ती

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध पद	शुद्ध पद
६२	२२	Atractions sphore	Attraction sphere
६३	१५	Irratibility	Irritability
,,	१६	Stimeli	Stimuli
,,	१८	Ceus	Cells
६८	७	अञ्जली	अञ्जलि
६९	१२	सापेक्ष्य	सापेक्ष
७२	२	bladar	bladdar
,,	५	intestines rectum	intestine and rectum
७४	९	गर्विनियों	गवीनियों
,,	१५	क्षय	क्षीण
७६	११	Experation	Expiration
७७	१३	मूर्द्धानं	मूर्द्धा ना
८०	१३	आत्मा मनसः	आत्ममनसः
८१	२	स्वेदो	स्वेद
८४	१३	नाभिरामशयः	नाभिरामाशयः
८६	१२	स्वेदग्रन्थियां	स्वेदग्रन्थियों
,,	१३	निचली	निचले
,,	१९	पयस्विनियों	पयस्विनियों
,,	२२	अग्नेयरस	आग्नेय रस
,,	,,	प्रतिहारिणी	प्रतीहारिणी
८८	१४	entoricus	entericus

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध पद	शुद्ध पद
८९	१७	foctus	foetus
९०	२,४	intrensic	intrinsic
९३	७	पारिव्याप्त	परिव्याप्त
१०३	९	प्रयत्नश्च	प्रयत्नाश्च
१०९	७	सम्बर्धन	सम्बर्धन
,,	१०	रसायिनियाँ	रसायनियाँ
११०	१६	वर्ग के	वर्ग इन के
१११	८	सरियोलट	एरियोलर
११३	७	office	officers
११६	१९	पंगुः (प्रथम)	पंगु
,,	२१	अव्ययश्चा	अव्ययश्च
११७	१४	विकृताविकृतास्तथा	विकृताविकृतैतस्था
१२०	११	सदातुराः	सदाऽऽतुराः
१२२	१५	च० वि० १५	च० चि० १५
,,	१९	अनपचारस्तु	अनपचारनस्तु
१२३	१	श्लेष्माणां	श्लेष्मणां
,,	११	रूप में	स्वरूप में
१२५	१७	अश्मश्रु	श्मश्रु
१२९	६	उमरी	उभरी
१३३	६	वात पर	वातसंस्थान पर
१३४	१६	दृष्ट	इष्ट

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध पद	शुद्ध पद
१३४	१७	ओजस्थ	आन्त्रस्थ
१३५	२	Harmone	Hormone
१५०	३	नराणमुपजायते	नराणामुपजायते
,,	४	तच्च प्रकुपितं	तच्च पित्तं प्रकुपितं
,,	१०	वृद्धि	वृद्धिः
१५३	२३	Protic	Protein
१५५	१३	मालटोन	माल्टोज
१५६	१२	Submaxellary	Submaxillary
१५८	१५	Renew	Renin
१३५	१८	तीस	तीन
१३७	१३	जीवाणुओं	जीवनीयों
१३८	२१	वस्तिसिर	वस्तिशिर
१३९	४	यन्थियों	ग्रन्थियों
,,	२०	lecturn	luteum
१४६	४	luteuno	luteum
१४७	७	अन्तर्ग्रन्थिख्य	अन्तर्ग्रन्थिस्थ
१५९	१	मेरा	मेटा
१६१	१	hous	hans
१६२	२	दूध	दूध है
,,	४	स्नेहात्मक	स्नेहाम्ल
,,	५	ग्लिसटोल	ग्लिसरोल

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध पद	शुद्ध पद
१६५	९	मित्रने	मिथेन
,,	१२	गैसों से	गैसों के
१७३	१०	Conjuctive	Conjuctiva
१७४	२	lacrymalia	lacrimalis
१७५	१४	Papil	Pupil
१८९	१	Fovia	Fovea
१८१	९	वातावरण का	वातावरण से
१९०	३	श्वासनक	श्वसनक
१९४	१०	मस्तिकास्थि	मस्तिष्कस्थित
१९७	२	भी कफ	भी श्लेषक कफ
१९८	१०	कारण	×
२००	५	शर्य्यन्ते	शीर्य्यन्ते
२०३	३	ओजे	ओजो
२०७	१६	अधोञ्जली	अर्धाञ्जलि
२०९	७	sland	gland
२१०	१२	बलोये	बलोपे
२१३	१९	Antiborin	Antitoxin
२१४	१३	रासायनियाँ	रसायनियाँ
२१५	१३	Aquired	Acquired
,,	८	की कल्पन	के कल्पन
,,	११	लिया	ली

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध पद	शुद्ध पद
२१६	७	Con pox	Cow-pox
२१७	८	वहिर्मलानां	बहिर्मलानां
,,	१३	स्वयम्भुरेष	स्वयम्भूरेष
२२१	२१	मूर्ध्न्यस्थितः	मूर्ध्न्यवस्थितः
२२३	११	श्राव	स्राव
२२४	३	रसायिनी	रसायनी
२२४	११	क्रिया	क्रियः
,,	१४	चेष्टत्ययपि	चेष्टयत्यपि
२२५	१	ब्यानः	व्यानः
२२८	१२	रसावह संस्थान	रसवह संस्थान
२२९	१६	शरीर	शिर
२३०	१४	Asterent	Afferent
२३०	१६	Esterent	Efferent
२३३	४	Phargux	Pharynx
,,	१०	Tonsils	Tonsititis
,,	२१	Cochba	Concha
२३४	१३	गुण्डिकाएँ	शुण्डिकाएँ
२३७	२	अनुप्रणन	अनुप्रीणन
२३८	१९	feters	fibres
२३९	५	Midlerain	Midbrain
,,	६	oblongeta	oblongata

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध पद	शुद्ध पद
२३९	१७	पृष्ठनेश	पृष्ठदेश
,,	२१	वृत्तियों	वृतियों
२४०	२	वृत्तियों	वृतियों
२४१	७,९,१०	सिताओं	सीताओं
,,	१४	context	cortex
२४३	१०	Cramil	Cranial
२४४	९	Abdulens	Abducens
२४८	४	वेद्य	वेग
२४९	१७	मणिपुरचक्र	मणिपूरचक्र

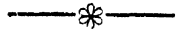

त्रिदोष-तत्त्व विमर्श

पहला अध्याय

त्रिदोष का स्वरूप निर्णय

आयुर्वेद शास्त्र आरम्भ से ही वात-पित्त और कफ, इन तीन धातुओं के आधार पर प्रतिष्ठित है। ये तीनों धातु अपनी प्रकृत-अवस्था में शरीर का धारण करते हैं। जब इनके अन्दर विकृति आती है तो ये शरीर के अन्दर नाना प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं और उसका उचित प्रतिकार न होने से शरीर का नाश कर डालते हैं[1]। जब ये प्रकृत या साम्यावस्था में रहते हैं तो देह को धारण करने से 'धातु' कहलाते हैं और इनके अन्दर जब विकृति आ जाती है या विषमावस्था होती है तो देह को दूषित करने से इनका नाम 'दोष' पड़ता है[2]।

१—"वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च॥" अ० हृ० सू० १०

२—"धारणात् धातवः, दूषणात् दोषाः, मलनी करणान्मलाः।"
"वायुः पित्तं कफो दोषा धातवश्च मलामताः।
तत्रापि पञ्चधा ख्याताः प्रत्येकं देह धारणात्॥"

आयुर्वेद-शास्त्र का प्रयोजन स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोग का प्रतिकार करना—दोनो है[1]। परन्तु रोगप्रतिकारार्थ आयुर्वेद का अध्ययन आजकल विशेष होने से तथा रोग प्रतिकारार्थ शास्त्र में विशेष विवेचन होने से 'त्रिदोष' शब्द दोनों अर्थों (धातु तथा दोष) में व्यवहृत हुआ है। ये वातादि शरीर में दो प्रकार से रहते हैं :—(१) सूक्ष्म, सारभूत या प्रसादरूप और (२) स्थूल, असारभूत या मलरूप। जो सूक्ष्म-सारभूत शरीर का धारण-चालन-अन्नविपाचन-पोषणादि करनेवाले भाव हैं वे 'प्रसादरूप' या 'धातुरूप' हैं। और जो शरीर में बाधा उत्पन्न करनेवाले श्लेष्म-सिंघाणक आदि त्याज्य स्थूलभाव हैं वे 'मल' हैं। इस प्रकार इन प्रसादभूत सूक्ष्म भावों की वातादि संज्ञा मुख्य और मलभूतों की गौण संज्ञा है[2]।

---

*शरीर दूषणाद्दोषा धातवो देह धारणात्।
वात पित्त कफाज्ञेया मालिनी करणान्मलाः॥" शा० पू० अ० ५

१—"इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनं स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमार्त्तस्य रोगनुदिति।" —चरक

२—"एते खलु वातादयः शरीरे द्वेधाऽवतिष्ठन्ते, तत्र तेषां ये सूक्ष्माः सारभूताश्शरीरधारण-चालानान्नविपाचन पोषणादि कारिणो भागास्ते प्रसादाः; शरीराबाधकरास्त्याज्यभागास्तु श्लेष्म सिंघाणकाद्याः मलभूता इति। एवं च प्रसादभूतेषु एव तेषु वातादि संज्ञा मुख्याः, मलभूतेषु तु गौणा इत्याचार्याणमभिप्रायः। यथाह चरकः—शरीर धातवः पुनर्द्विधा, मलभूताः प्रसाद भूताश्च। तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्याबाधकराः स्युस्तद्यथा—शरीरच्छिद्रेषूपदेहकराः पृथक् जन्मानोबहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः प्रकुपिताश्च वात*

आयुर्वेद दृष्ट्या शरीर वात पित्त श्लेष्माओं का बना हुआ है[१]। शरीर में जितने पदार्थ हैं उनमें कुछ वात धातु विशिष्ट होने से 'वात संज्ञक', पित्तधातु विशिष्ट होने से 'पित्तसंज्ञक' और कफधातु विशिष्ट होने से 'कफसंज्ञक' हैं। अर्थात् शरीरगत पदार्थों का तीन प्रधान वर्ग है और उनको 'उत्कर्षेण व्यपदेशः' के अनुसार आयुर्वेद-साहित्य में वात-पित्त-कफ नाम से संज्ञित किया गया है। अतः आयुर्वेद जिज्ञासुओं को सर्व प्रथम इनका ज्ञान होना परमावश्यक है। चरक संहिता में उक्त शरीर के मूलभूत उपादानों को, शरीर में सदा सन्निहित रहनेवाला अमित्र (शत्रु) कहा है और इनसे सदा सावधान रहने का उपदेश किया है। तथा स्वस्थ रहने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को सदा इनके गति-विधि की परीक्षा कर तदनुसार आचरण करने का आदेश किया है। इनके प्राणधारक होने पर भी इनकी प्रकृति तथा विकृति अवस्था का ज्ञान होना परमावश्यक है[२]।

---

*पित्त श्लेष्माणः, ये चान्येपि केचित् शरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोप पद्यन्ते। सर्वांस्तान् मलान् संचक्ष्महे ; इतरांस्तु प्रसादानिति।" चरक शा० ६

"अथादौ द्विविधा एते प्रसादमल भेदतः।
सारभूताः प्रसादाः स्युः किट्टभूता मलाः स्मृताः॥" —चरक

१—"वात-पित्त-श्लेष्माण एव देह संभव हेतवः। तैरेवाध्यापन्नैरधो-मध्योर्ध्व सन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिवस्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूण-माहुरेके, त एव व्यापन्नाः प्रलय हेतवः।" सु० सू० अ० २१

२—"नित्यं सन्निहितामित्रं परीक्ष्यात्मानमात्मवान्।
नित्यं युक्तः परिचरेदिच्छन्नायुरनित्वरम्॥"* च० सू० १७

वायु, पित्त और कफ ये तीन शरीर के दोष हैं अतः इन्हें 'शारीरदोष संग्रह' कहा गया है। 'रज' और 'तम' को मन के दोष होने से 'मानसदोष' कहा है[1]। मानवशरीर मन, आत्मा और (पाञ्चभौतिक सेन्द्रिय) शरीर का समवाय मात्र है। यही आयुर्वेद का 'चिकित्स्य पुरुष' है। दार्शनिकों का 'कर्मपुरुष' तथा 'राशिपुरुष' भी यही है। चिकित्सा के सभी विषय इसी 'कर्म-पुरुष' में प्रतिष्ठित हैं। इनमें आत्मा निर्विकार तथा दोषरहित है। अतः आत्मा को छोड़कर शेष दो (मन और शरीर) दोष सहित होते हैं। अर्थात् मन और शरीर का सूक्ष्म से सूक्ष्म-अंश उक्त दोषों का बना हुआ है, उन दोषों के अतिरिक्त इनकी सत्ता नहीं है। प्रस्तुत लेख में शारीर-दोषों पर ही विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

मानव शरीर के अन्दर इन (वात-पित्त-कफ) दोषों की स्थिति क्रमशः अधो-मध्य और ऊर्ध्व भाग में निर्दिष्ट की गई है ये तीनों दोष अव्यापन्नावस्था में तीन खम्भों पर स्थित गृह के समान स्थूण का कार्य करते हैं अतः आचार्यों ने इसे 'त्रिस्थूण' कहा है। ये ही व्यापन्नावस्था में प्रलय के हेतु बन जाते हैं।

---

*"नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्त कफास्त्रयः।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पंडितः॥" च० सू० १८

१—"वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोष संग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥" च० सू० १

"नरौ देहः कफादस्ति न पित्तान्नच मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते॥" सु० सू० २१

वातादिकी निरुक्ति[1]

वात शब्द 'वा' गति और गन्धन अर्थ रखने वाले धातु में 'क्त' प्रत्यय लगाने से बना हुआ है, जिसका साधारण अर्थ स्पर्श गुण विशेष रखनेवाला पञ्च महाभूतों का द्वितीय महाभूत 'वायु' है। साधारणतः नित्य प्रति स्पर्श से बोध होने वाला 'वायु' तथा शरीरगत 'वात धातु' भी इस शब्द द्वारा संज्ञित होता है। यहां पर अन्तिम अर्थ ही अभिप्रेत है। इसी प्रकार 'पित्त' शब्द 'तप' (सन्तापे) सन्ताप अर्थ रखने वाले धातु में 'क्त' प्रत्यय लगाने से बनता है, जिसका अर्थ देहस्थ 'पित्त धातु' होता है। श्लेष्मा 'श्लिष्' (आलिङ्गने) आलिङ्गन अर्थात् लिपट जानेवाले के अर्थ रखने वाले धातु में 'मनिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है, जिसका अर्थ शरीर का लिपटने वाला 'कफ धातु' है। कफ शब्द की निरुक्ति भी इसी प्रकार 'जलीय तत्त्वों से उत्पन्न होने वाला धातु' ऐसा किया गया है।

उपर्युक्त कफ-पित्त और वात की उपमा शास्त्रों में सोम, सूर्य

१—"तत्र 'वा'—गति गन्धनयोरिति धातुः, तप-सन्तापे, श्लिष-आलिङ्गने एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति।"

सु० सू० २१

"वात—पु०—वा×क्तः। स्पर्शमात्रविशेषगुणके भूतभेदे पवने, देहस्थे धातुभेदे च। पित्त—नं०—अपि×दा—क्तः; तादेशः अल्लोपः न दीर्घः। देहस्थे धातु भेदे। श्लेष्मा—श्लेष्मन्—प्रथमा—एक बचन, श्लिष—मनिम्। कफे।" कफ—पुं० केन जलेन फलति इति। शरीरस्थे धातु भेदे।

शब्द स्तोमः

और अनिल से दी गई है। जिस प्रकार सोम अपने विसर्ग अर्थात् देना या बढ़ाना, इन कर्मों के द्वारा जगत् का धारण करता है उसी प्रकार 'शरीरस्थ कफ' भी अपने विसर्ग गुण से अर्थात् वृद्ध्यात्मक या रचनात्मक गुण कर्मों से शरीर का धारण करता है। इसी प्रकार सूर्य की भाँति पित्त अपने आदान गुण से (लेना, सुखाना या पकाना आदि गुण कर्मों से) तथा अनिल की भाँति वात अपने विक्षेप (फेकना, हिलाना, गति उत्पन्न करना आदि) गुण कर्मों से शरीर का धारण करते हैं[1]। सोम गुण धारण करने से कफ को 'सौम्य धातु', अग्नि तथा सूर्य के गुण धारण करने से पित्त को 'आग्नेय' और वायु के गुणों को धारण करने से वात को 'वायव्य धातु' कहा गया है।

वात धातु

स्वरूप[2]

रौक्ष्य, शैत्य, लाघव, वैशद्य, गति, अमूर्त्तत्व, वायु के ये स्वरूप (आत्मरूप) शास्त्रों में प्रतिपादित है। वात धातु अपने आप उक्त गुण युक्त होने से, गुण-गुणी का अभेद रूप होता है; इस नियम के अनुसार तद्रूप है। तात्पर्य यह कि शरीर के अन्दर

१—"विसर्गादानविक्षेपैः सोम सूर्यानिला यथा ।
धारयन्ति जगद्देहं कफ पित्तानिलास्तथा ॥" सु० सू० अ० २१

२—"तत्र रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्त्तत्वं च वायोरात्मरूपाणि ।"
च० सू० २०

रौक्ष्यात्मक, शैत्यात्मक, लाघवात्मक, वैशद्यात्मक, गत्यात्मक तथा अमूर्त्तभाव, ये सभी वायु के ही स्वरूप हैं। वायु के रूप का ज्ञान उक्त शरीरस्थ भावों द्वारा हमें हो सकता है। शरीरस्थ दृश्यमान् अदृश्यमान् सभी उपादान 'उत्कर्षण व्यपदेशः' इस नियम के अनुसार वातवर्ग, पित्तवर्ग तथा कफवर्ग के हैं। उनमें ऐसे शरीरस्थ उपादान जिनमें वायु के उक्त (रौक्ष्यादि) गुण सम्पन्न हों वे सब वातवर्ग के हैं।

गुण[1]

रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म, चल, विशद, ये वात धातु के भौतिक गुण हैं। शब्द तथा स्पर्श वात के नैसर्गिक गुण कहे गये हैं। त्रिगुणात्मक होने पर भी वायु को रजो बहुल कहा गया है। अतः शरीरस्थ धातु में उक्त गुण वायु के कारण ही होते हैं। वायु की गति तिर्यक् होती है।

कर्म[2]

शरीरस्थ सभी चेष्टाएँ अर्थात् उत्साह, उच्छ्वास, निःश्वास,

१—"अव्यक्तो व्यक्त कर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः ।
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजो बहुल एव च ॥" सु० नि० १
"रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः ।" च० सू० १

२—"सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।
तेनैव रोगाः जायन्ते तेन चैवावरुध्यते ॥" च० सू० १७
"उत्साहोच्छ्वास निःश्वास चेष्टा धातु गतिः समाः ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥" च० सू० १८

समभाव से धातुओं की गति, गतिमान पुरीषादि का समभाव में बाहर निकालना इत्यादि सभी कर्म प्रकृत-अविकृत-वात धातु का ही है। यही कारण है कि 'वात धातु' को प्राणियों का प्राण कहा गया है। इसमें किसी प्रकार का विकार आने से शरीर विकृत (रोगी) हो जाता है और इसकी अविकृति (प्रकृत) से शरीर अविकृत (अरोग) रहता है। इस प्रकार समस्त प्रकृत रजोगुणात्मक कर्म वायु का शास्त्रों में संक्षेप से कहा गया है।

वायु के प्रकार

आयुर्वेद के आर्ष ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है कि कुछ सम्प्रदाय 'वायु द्रव्य' को प्रधान मानते थे और कुछ 'वायुधर्म' को। उसके अनुसार दोनों ही सम्प्रदायों ने अपने-अपने वायु को प्राणादि प्रकारों में विभाजित किया है। फलस्वरूप आयुर्वेद शास्त्र में दोनों प्रकार के विभाजनों के उपलब्ध होने से वायु के वर्णन में वैचित्र्य दृष्टिगोचर होना स्वभाविक है। यह बात वैदिक वाङ्मय में भी देखने में आती है। वेदों में प्राण-अपान और उदान संज्ञक प्रकार 'वायु द्रव्य' और 'वायुधर्म' दोनों के उपलब्ध होते हैं। अतः इनका पृथक्-पृथक् वर्णन तथा विवेचन करना ही उचित होगा।

वायुद्रव्य के प्रकार

सुश्रुत संहिता में वायुद्रव्य का विवेचन दो जगह उपलब्ध होता है। (१)—"प्रस्पन्दोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः

पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति।" (सु० सू० १५)। इस सूत्र में वायु के पांच प्रधान लक्षणों का उल्लेख करके यह सूचित किया गया है कि वायु इन लक्षणों के अनुसार पांच प्रकारों में विभाजित होकर शरीर को धारण करता है। इस वचन के अनुसार 'प्राण' का प्रस्पन्दन, उदान का उद्वहन, व्यान का पूरण, समान का विवेक और अपान का धारण मुख्य लक्षण हैं। इसका स्पष्टीकरण इनके पृथक् विवेचन से होगा जो आगे किया गया है।

१—प्राण वायु

"वायुर्यो वक्त्रसंचारी सः प्राणो नाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते॥"

सु० नि० १

अर्थात्—बाहर की हवा नाक और मुख द्वारा मुख्यतः प्राण वह स्रोतों (Trachea, Bronchii, alveoli) में प्रविष्ट होता है। इस हवा में 'प्राण द्रव्य' (Ofhygen) रहता है। यह 'प्राण द्रव्य' रक्त के द्वारा प्रथम हृदय (Heart) में, और वहां से समस्त शरीर में सञ्चार करता है। प्राण द्रव्य शरीर का पोषक ही नहीं बल्कि जीवन की मुख्य वस्तु होने के कारण देह धारक होता है। उक्त श्लोक में मुख में सञ्चार करनेवाले वायु को प्राण वायु और "देहधृक्" इसी आशय को लक्ष्य करके कहा गया है। अन्न को निगलने के समय भी बाहर के वायु की आवश्यकता होती है। बाहर के वायु जबतक अन्नमार्ग में सहायक नहीं

होती तबतक अन्न के निगलने में कठिनाई होती है। बाहर की वायु प्राण-द्रव्य विशिष्ट वायु है अतः प्राण वायु का दूसरा परिचय देते हुए यह कहा गया कि 'सः'—वह, 'अन्न' अन्न को 'अन्तः'—भीतर अन्न नालिका में 'प्रवेशयति' प्रविष्ट कराती है। पहले संकेत किया जा चुका है कि नाक तथा मुख द्वारा प्राण वायु फेफड़ों के वायु-कोषों में पहुंचती है और उन वायु कोषों के चारों तरफ लिपटी रक्तवाहिनियों (शिराओं) में प्रविष्ट हो हृदय तक पहुंचती है। हृदय के अन्दर स्थिर होकर वह प्राण-द्रव्य विशिष्ट होने से प्राणों को अवलम्बन करता है। अतः उक्त श्लोक में 'प्राणांश्चाप्यवलम्बते' कहा गया है। इस 'प्राण-द्रव्य' (oxygen) का प्रधान स्थान श्वास मार्ग से लेकर हृदय तक है। अतः इसका प्रधान कार्य 'प्रस्पन्दन' अर्थात् हृदय और फुफ्फुस दोनों का आकुँचन-प्रसार माना गया है। यही कारण है कि प्राण वायु की विकृति के लक्षण में हिक्का-श्वासादि हृदय तथा फेफड़े के विकारों का वर्णन उपलब्ध होता है—जैसे—"प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्का श्वासादिकान् गदान्।" (सु० नि० १०)।

२—उदान वायु

"उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।
तेन भाषित गीतादि विशेषोऽभि प्रवर्त्तते॥"

सु० नि० १

पहले के सूत्र में उदान वायु का प्रधान कार्य 'उद्वहन' कहा गया है। कहीं-कहीं उद्ध्वसन भी इसका कार्य कहा गया है। किन्तु

उक्त श्लोक में मुख्यतः भाषा-संगीत का विशेष उल्लेख किया गया है। इस विषय में औपनिषदिक ऋषियों का कथन है कि 'प्राण एव उत्प्राणेन उत्तिष्ठति वग्गीः" (छा० प्र० ३–३) अर्थात् प्राण ही जब उत्प्राण के साथ ऊपर उठता है तब वाणी और संगीत की उत्पत्ति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनको उद्बृहन में प्राण और उत्प्राण संज्ञक दो (वायु) द्रव्यों का ज्ञान था। किन्तु ये मुख्य रूप से उदान प्राण को ही वाक् प्रवर्त्तक मानते थे।

३—समान वायु

"आम पक्वाशयचरः समानो वह्निसंगतः।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विकारान् विविनक्ति हि॥"

सु० नि० १

समान वायु का प्रधान कार्य विवेक कहा गया है। विवेक रसायनिक पृथक्करण को कहते हैं। तात्पर्य यह कि आमाशय तथा पक्वाशय में संचार करनेवाला समान वायु, वह्नि को संधुक्षित कर अन्न को पकाने में सहायक होता है और पाकजन्य अन्नरस से विकृत अंश (मल) को पृथक् करता है। तात्पर्य यह कि अन्नरस से मल को अलग करनेवाला तथा वह्नि को संधुक्षित करनेवाला वायु, समान वायु है।

४—अपान वायु

"पक्वाधानालयोऽपानः कालेकर्षति चाप्ययम्।
समीरणः शकृन्मूत्र गर्भशुक्रार्त्तवान्यधः॥"

सू० नि० १

यहां पक्वाधान से महास्रोत (Alimentary Canal) का उण्डूक से लेकर अधरगुद तक का भाग, मूत्रसंस्थान, शुक्रार्त्तवोत्पादक यन्त्र, और गर्भाशय इन सब अवयवों का ग्रहण है। अपान शब्द को भी यहां वर्गबोधक ही समझना चाहिये। इस प्रकार अपान वायु का परिचय उसके भिन्न-भिन्न अवयव गत कार्य विशेष से अर्थात् मूत्र, पुरीष, शुक्र, आर्त्तव तथा गर्भादि के निष्कासन एवं धारण से मिलता है। यह आवश्यकतानुसार उक्त पदार्थों का धारण और निष्कासन करता रहता है।

५—*व्यानवायु*

"कृत्स्नदेहचरो व्यानो रस संवहनोद्यतः।
स्वेदासृक् स्रावणो वापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ॥"

सु० नि० १

व्यानवायु का प्रधान लक्षण 'पूरण' कहा गया है। इस पूरण (दबाव, या भार) के कारण ही समस्त शरीर में रस संवहन होता है। पूरण शब्द को सरल भाषा में (रक्त) वाहिनियों का भरापूरा रखना कह सकते हैं। ऊपर के श्लोक में व्यानवायु का जो वर्णन आया है उसके अनुसार उसका तीन स्वरूप हो जाता है। (१) वाहिनीगत रस संवहनकर्त्ता के रूप में, (२) स्रोतोगत स्वेदश्रुतिकर्त्ता के रूप में और (३) धातु प्रसादगत या वायुगत चेष्टाओं के रूप में। इस प्रकार यह व्यान शब्द भी वर्गबोधक ही है। अर्थात् सम्पूण शरीर में संचार करने वाला, रस संवहन

में सदा उद्यत रहने वाला, स्वेद तथा रक्त का स्राव कराने वाला और शरीर के अन्दर पांचो प्रकार के चेष्टाओं को उत्पन्न करने वाला व्यानवायु है। यही कारण है कि व्यान के विकार में भी सम्पूर्ण शरीर के विकारों का उल्लेख मिलता है—जैसे—

"क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥"

सु० नि०

वायुधर्म के प्रकार

इस दृष्टिकोण पर विचार करने के पहले हमे वायु के विशिष्ट धर्म स्पर्श एवं वायुधातु के प्रसादजन्य स्पर्शेन्द्रिय की रचना पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्योंकि स्पर्श वायु का नैसर्गिक गुण है। उपलब्ध आयुर्वेद संहिताओं में इसके रचना के सम्बन्ध में जो साहित्य प्राप्त होता है वह अति सूक्ष्म एवं सूक्ष्म रूप में है आयुर्वेदेतर ग्रन्थों में इसकी स्थूल रचना का विवेचन कुछ विशेष उपलब्ध होता है। उन ग्रन्थों (तन्त्र ग्रन्थों) में मस्तिष्कगत 'सहस्रदल कमल' (सुश्रुत का अधिपति) 'हृदय कमल', कुलकुण्डलिनी (सुषुम्ना मध्यस्थ धूसर भाग) 'हिरण्य आप' (तर्पक कफ) कुलकुण्डलिनी से लगी हुई 'इडा' 'पिङ्गला' सुषुम्ना, सरस्वती वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहु, शंखिनी पयस्विनी, अलम्बुषा, व गांधारी नाम की नाड़ियां और इन चौदह नाड़ियों से संबन्धित सहस्रो शाखा-प्रशाखाएँ इनका उल्लेख है इसके अतिरिक्त ६ चक्रों का वर्णन मिलता है जैसे—मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा चक्र इत्यादि

इन वर्णनों का स्वाध्याय करने से इस विषय के अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिलती है।

उपर्युक्त सभी रचनाएँ धातुप्रसाद जन्य है। प्रत्यक्ष में धातु-प्रसाद के दो प्रकार उपलब्ध होते हैं। (१)—धूसर भाग (Grey matter) और (२) श्वेत भाग (White matter)। धूसर धातु प्रसाद के बने हुए अवयवों को 'पद्म' या 'कमल' कहा गया है। ये अनेक प्रकार के तथा असंख्य हैं। इनका शरीर में सर्वत्र अस्तित्व है। सहस्रदलकमल, हृत्कमल, कुण्डलिनी आदि चक्र मुख्यतः इन पद्मों के संयोग से ही बने हुए हैं। इनके अतिरिक्त उक्त लघु पद्म विषतन्तुओं से संयुक्त है। विष तन्तु श्वेत धातुप्रसाद के बने हुए होते हैं और इनके ही समुदाय से समस्त पद्म एक दूसरे के साथ सम्बद्ध है। इस प्रकार इन पद्मों (Neurons) तथा विषतंतुओं (Dendrites) का जाल सम्पूर्ण शरीर में बिछा हुआ है। उक्त रचना में ही कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय-मन स्थित होता है। उक्त इन्द्रियों में स्पर्शेन्द्रिय व्यापक होने से सभी इन्द्रियों की संगठित संस्था है। "तत्रैकं स्पर्शेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रिय व्यापकं चेतः समवायि, स्पर्शन व्याप्तेर्व्यापकमपि चेतः" (चरक सू० ११०)। कुछ अवयवों को छोड़ दिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उक्त संस्था के द्वारा ही 'करणवृत्ति' और 'चित्तवृत्ति' संज्ञक व्यापार प्रस्तुत होते हैं। जो सम्प्रदाय इन वृत्तियों को 'वायु धर्म' कहते हैं वे इन वृत्तियों को पुनः प्राणादि पांच प्रकारों में विभक्त करते हैं।

वायोर्विद् ने वायुधर्म का विवेचन करते हुए कहा है कि वह वायु प्राण-उदान-समान-व्यान और अपान, इन प्रकारों में विभक्त है। वायोर्विद् की दृष्टि में 'प्राणधर्म' (प्राणवायु) का प्रधान कर्म 'उत्साह' अथवा 'उद्योजन' है[1]। उद्योजन (Irratibility) धातु प्रसाद के अतिरिक्त अन्यत्र भी रहता है। धातु प्रसाद के धूसर भाग में अर्थात् पद्मों में विशेषकर उद्योजन रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ और अवयव भी हैं जिनमें स्वतन्त्र रूप से उद्योजन-शीलता रहती है; जैसे—(१) 'अणु अवयव'गत उद्योजन जिसके द्वारा वह अपना स्वाभाविक कार्य करता है, (२) श्लेष्मगत बलोत्पादक उद्योजन, (३) पीतस्नायुगत उद्योजन, (४) नेत्रान्तरतृतीयपटलगत आयम्यता का उद्योजन, (५) पक्ष्मापरागत (Cilliated Epithelium) पक्ष्मव्यापाररूपी उद्योजन, (जिसे तृणजलौका गति कहा है) (६) अग्निमण्डलगत पित्तोत्पादक उद्योजन, (७) रसशोषण क्षमता का उत्पादक रक्तस्थ श्वेतकणगत उद्योजन और (८) प्रस्पन्दन प्रवर्त्तक हृन्मांसगत उद्योजन इत्यादि। वायोर्विद् की भाषा में उक्त सभी उद्योजनों का अन्तःस्थ उद्योजक 'प्राणधर्म' (प्राणवायु) ही है। यद्यपि सत्व (मन) के तथा वाह्य विषयों के कारण उद्योजनशील अवयवों में उद्योजन (उत्तेजना) पैदा होता है तथापि ये अन्य उद्योजक 'प्राणधर्म' के

१—"तच्छ्रुत्वा × × × उवाच वायोर्विदो राजर्षिः— × × × × सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः हर्षोत्साहयोर्योनिः, × × × × इन्द्रियार्थाणामभिवोढा × × ×

अभाव में उत्तेजना नहीं उत्पन्न कर सकते। अतः प्रधान उद्योजक 'प्राणधर्म' (प्राणवायु) को ही कहना उचित है। सामान्यतः समस्त उद्योजनशील अवयव प्राणधर्म के निवास-स्थान हैं। परन्तु हृत्कमल जैसे मध्यम कमल, कुण्डलिनी और ज्ञानेन्द्रियगत धूसर-प्रसाद, ये इसके उच्चतर स्थान हैं और प्राणायतन (Internal capsule) के आसपास और अधिपति के दलस्थली (Cortex) ये उच्चतम स्थान हैं।

प्राण के द्वारा सर्वप्रथम उद्योजन होता है और यह उद्योजन ही अनेक व्यापारों में परिणत होता है। धूसर धातु प्रसादगत अर्थात् पद्मगत उक्त उद्योजन तन्तुओं में 'वेगों' का अथवा वृत्तियों का रूप धारण करता है। ये वेग दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रवर्त्तक और (२) अभिवाहक। प्रवर्त्तक वेगों के कारण कर्मेन्द्रियों के व्यापार—आकुंचन-प्रसारणादि होते हैं और अभिवाहक वेगों के कारण ज्ञानेन्द्रियों द्वारा स्पर्शादि विषयों का अभिवहन होता है। इसीसे वायोर्विद् ने प्राणधर्म को अर्थाभिवाहक और चेष्टाप्रवर्त्तक कहा है[1]।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के वेग यद्यपि भिन्न-भिन्न नाड़ियों से प्रस्तुत होते हैं तथापि उनका समवायिकारण नाड़ियाँ नहीं हैं। अथवा अमुक वेग अमुक नाड़ी से ही प्रस्तुत होता है यह भी नहीं कह सकते। प्राणवायु के तथा मन (सत्व) के निवासस्थान भी प्रायः एक ही है और नाड़ियों में प्राणवृत्तियों के साथ-साथ चित्त-

१—प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्··· ।" च० सू० १२

वृत्तियाँ भी संचार करती हैं। इसी हेतु से वायोर्विद ने सत्त्व (मन) का नियन्ता तथा प्रणेता प्राणवायु है, ऐसा कहा है[१]। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'सहस्रदल कमल' की दल-स्थली में, विशेषतः उसके पुरोभाग में ऐसे पद्म हैं, जिनमें सत्त्व की वृत्तियाँ प्रधानता से रहती हैं। फिर भी वायोर्विद ने प्राण को ही हर्ष की योनि (हर्षोत्साहयोर्योनिः) माना है।

प्राणवायु का यह विवेचन बहुत ही व्यापक ढंग से किया गया है। प्राणवायु के इस व्यापक क्षेत्र को संकुचित करके उदान आदि प्रभेदों की कल्पना की गई है। इसके अनुसार उदानवायु के तीन कार्य माने गये हैं; जैसे (१) समस्त शारीरिक धातुओं का व्यूह करना[२], (२) अवयवों का संधान करना और (३) वाणी को प्रवृत्त करना। इसी प्रकार समान वायु के तीन कार्य हैं[३]। (१) अग्नि को प्रज्वलित करना तथा (२) सार-भाग का शोषण करना एवं (३) मल (किट्ट) भाग को अलग करना। वायोर्विद के वक्तव्य में व्यान के कार्यों का स्पष्ट वर्णन नहीं उपलब्ध होता। गर्भावस्था में कललपाक के समय छोटे-बड़े स्रोतों का बनाना और गर्भ में आकृति पैदा करना अपान का कार्य कहा है[४]। इसके अतिरिक्त चरक-चिकित्सास्थान में इनके स्थान

१—"नियन्ता प्रणेता च मनसः" च० सू० १२

२—"सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्त्तको वाचः।" च० सू० १२

३—"समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानाम्।" च० सू० १२

४—स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्त्तागर्भाऽकृतीनाम्।" च० सू० १२

आदि का वर्णन मिलता है, जो आगे स्थान-विवेचन में स्पष्ट किया जायगा।

पित्तधातु

स्वरूप[1]

औष्ण्य, तैक्ष्ण्य, द्रव, लाघव, अनतिस्नेह, अशुक्ल वर्ण, नील-पीत विस्रगंधी (सड़ान-सी गन्धवाला) कटु और अम्ल रसवाला, सर, ये 'पित्त' के आत्मरूप हैं। गुण-गुणी का अभेद सम्बन्ध होने से 'पित्त धातु' उक्त गुण सम्पन्न होने से तद्रूप कहा गया है। तात्पर्य यह कि शरीर के औष्ण्य, तैक्ष्ण्य, द्रव, अनति-स्निग्ध, शुक्ल वर्ण को छोड़ कर शेष सभी वर्ण, विशेष कर नील और पीत, कटुरस, विदग्ध होने पर अम्ल रस और सरभाव—ये सभी पित्त धातु के स्वरूप हैं; अर्थात् पित्त का रूप-ज्ञान उक्त शरीरस्थ भावों के द्वारा होता है। शरीरस्थ उक्त गुण-सम्पन्न उपादान 'उत्कर्षेण व्यपदेशः' इस नियम के अनुसार पित्तवर्ग के हैं।

गुण[2]

उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, सर, विस्र, अम्ल, कटु, पीत तथा नीलवर्ण—ये सब पित्त के गुण (भौतिक-गुण) हैं। शब्द, स्पर्श तथा रूप-

---

१—"औष्ण्यं, तैक्ष्ण्यं, लाघवं द्रवमनतिस्नेहो वर्णश्चाशुक्लः गन्धश्च विस्रः रसौ कटुकाम्लौ सरश्च पित्तस्यात्म रूपाणि"। चरक सू० २०

२—"पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च॥" सु० सू० २०
"सस्नेह मुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।" च० सू० १
"पित्तं प्रकृत्या कटुरसं यत् पुनरम्लत्वं तदस्य विदग्धस्यैव।"* —डल्हन

प्रधान इसके नैसर्गिक गुण हैं। यह त्रिगुणात्मक होने पर भी सत्त्व गुण बहुल होता है। तात्पर्य यह कि शरीरस्थ सभी उपर्युक्त गुण पित्त के कारण ही होते हैं।

कर्म[1]

दर्शन, अन्नादिका पाक, ऊष्मा, क्षुधा, तृष्णा, शरीर में कोमलता, प्रभा, प्रसाद (प्रकाश), मेधा आदि को उत्पन्न करना ये सब अविकृत (प्रकृत) पित्त धातु के हैं। शरीर के अन्दर ऊष्णता (ऊष्मा) तथा विविध पाक पित्त के ही कारण होते हैं। पित्त ही प्रकुपित होकर नाना प्रकार के विकार उत्पन्न करता है। दृष्टि नाड़ी (Optic Nerve) के वितान से युक्त नेत्रान्तरीय चरम पटल में आलोचक पित्त का तेज-प्रकाश स्वभाववाला होने से रूपोद्भासन (दर्शन) कार्य करता है। भुक्तान्न का पाक तीव्र पाचकरसों के स्रावगत पित्त से होता है और रस का पाक (राग) यकृत् प्लीहागत रञ्जक पित्त से होता है। इसी प्रकार धातुगत पित्त-अग्नि (Intercellular enzymer) से धातुओं का पाक होता है। क्षुत्, तृष्णा, प्रभा, प्रसाद तथा मेधा—ये सब पित्त के ही कारण होते हैं।

---

*"औष्ण्य-तैक्ष्ण्य-रौक्ष्य-लाघव-वैशद्यगुण लक्षणं पित्तं, तस्य समानयोनिः कटुको रसः।" सु० सू० ४२

१—"दर्शनं पक्ति रूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्त कर्माविकारजम्॥" च० सू० २०

"पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते।
पित्तं चैव प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून्॥" च० सू० १७

पित्त के प्रकार

पित्त के भी पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक और भ्राजक नाम से पांच प्रकार किये गये हैं। इनमें से पाचक का स्पष्टीकरण अम्ल पाक से होता है। रञ्जक के विषय में यह विचारणीय है कि इसका ज्ञान सर्वप्रथम देहगत प्रकृत-विकृत वर्णों से हुआ अथवा रस-रञ्जन से हुआ। साधक के विषय में यह तर्क है कि आत्मा हृदय में जिस अन्न के सहारे रहता है, उस अन्न को ही साधक पित्त माना गया है। आलोचक का इतिहास भी कुछ ऐसा ही है। इन सब बातोंका स्पष्टीकरण इनके होनेवाले विस्तृत वर्णन से ही होगा।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में उक्त पित्त के प्रकारों का नामतः पृथक्-पृथक् उल्लेख नहीं किया गया था। इसका समर्थन निम्न कतिपय विचारों तथा विवादों से हो जाता है। जैसेः—कुछ सम्प्रदाय ऐसे थे जो 'अग्नि' और 'पित्त' को भिन्न-भिन्न मानते थे और कुछ सम्प्रदाय ऐसे थे, जो इन दोनों को अभिन्न मानते थे, अर्थात् पित्त में ही अग्नि का और अग्नि में ही पित्त का अन्तर्भाव करते थे। सुश्रुत संहिता में यह विचार स्पष्ट रूपसे उद्धृत किया गया है; जैसे—"अत्र जिज्ञास्यं किं पित्त व्यतिरेकादन्योऽग्नि राहोस्वित्पित्त मेवाग्निरिति" (सु० सू० २१) अर्थात् पित्त को छोड़कर अन्य कोई अग्नि शरीर में है या पित्त ही अग्नि है ? विवाद के अन्त में यह निर्णय हुआ कि—"न खलु पित्त व्यतिरेकादन्योग्निरुपलभ्यते आग्नेयत्वात् पित्तं

दहन पाचनादिष्वग्निवर्त्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तराग्निरिति। क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समान द्रव्योपयोगादागमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति।" (सु० सू० २१) अर्थात् पित्त के अतिरिक्त शरीर के अन्दर कोई अन्य अग्नि नहीं मिलती। आग्नेय गुण होने से तथा पित्त में दहन, पाचन आदि गुण होने से उसे अन्तराग्नि आदि अग्नि के समान नाम देते हैं। प्रत्यक्ष यह देखा गया है कि अग्नि गुण के कम हो जाने पर अर्थात् शरीर के अन्दर पाक आदि की दुर्बलता हो जाने पर तद्गुण विशिष्ट द्रव्यों (पित्तवर्धक द्रव्यों) का व्यवहार होता है और शास्त्रों में भी इसका समर्थन (आगम प्रमाण) मिलता है कि पित्त को छोड़ कर दूसरी कोई अग्नि शरीर में नहीं देखी जाती। इस प्रकार अग्नि का अस्तित्व पृथक् अस्वीकार करने पर अग्नि शब्द का अर्थ आयुर्वेद वाङ्मय में कहीं 'पित्त' और कहीं पित्तगत 'अदृष्ट हेतु' भी होने लगा और अग्नि-स्थान भी पित्त-स्थान प्रतीत हुआ। इसी दृष्टि से "अग्निरेवशरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति।" इत्यादि मरीचि का विधान माननीय होता है। मालूम होता है कि इन विवेचनों के समय तक पित्त का पञ्चधा और नामतः विभक्तकरण नहीं हो पाया था। पञ्चधा विभक्तकरण का आरम्भ—"रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्नि कर्मणानुग्रहं करोति।" (सु० सू० १५) सुश्रुत के इस वाक्य से होता है; अर्थात् सुश्रुत काल से आरम्भ होता है।

१—पाचक-पित्त

षड्रसवादियों के समय में आमाशय को केवल श्लेष्मा का स्थान माना गया प्रतीत होता है ; क्योंकि उन्होंने अन्न-परिपाक का वर्णन करते समय कहा है कि आमाशय में अन्न का जो पाक तथा विदाह होता है, वह आमाशय के अधोभाग स्थित अग्नि की ऊष्मा से, चूल्हे की आँच से बटलोही में चावल पकने के समान होता है[1]। पाक की पहली अवस्था में अन्न मधुर व फेनयुक्त होता है और उससे श्लेष्मा की वृद्धि होती है। पाक की दूसरी अवस्था में अन्न विदग्ध होकर अम्ल-कल्प बनता है। यह अन्न जब आमाशय से नीचे आता है तब वहां उसकी अम्लता के कारण उसकी पुष्टि एवं वृद्धि होती है। इस पित्त से यद्यपि आगे अन्न रस का परिपाक होता है, तथापि यहां पाचन-व्यापार में जठराग्नि ही प्रधान है[2]।

पञ्चात्मक लोकपक्षी भौम्य, आप्य, आग्नेय, वायव्य तथा नाभस (अग्नि), इस प्रकार के पञ्चाग्नियों का संकेत करते हैं और पांचभौतिक आहार के परिपचन में उक्त पञ्च-अग्नियों को कारण

१—"एवं रस मलायन्नमाशयस्थमधः स्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बु तण्डुलम्॥ च० चि० १५

२—"अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुरात्प्राक कफोद्भावात् फेनभूत उदीर्यते॥
परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्ल भावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥" च० चि० १५

मानते हैं। इस प्रकार उक्त पञ्चाग्नियों द्वारा आहारगत पञ्चावयवों का परिपाक होने के पश्चात् उत्पन्न पांच भौतिक पोषक अन्न रसों से देहधारक सप्त धातुओं का सम्पर्क होने पर पुनः उनका धात्वग्निओं द्वारा परिपाक होता है और उससे प्रसाद तथा किट्ट भाग का निर्माण होता है।

"भौमाप्याग्नेय वायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहार गुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन्पचंतिहि॥
सप्तभिर्देह धातारो द्विविधाश्च पुनः पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्ट प्रसादवत्।"

च० चि० १५

उक्त श्लोक में 'ऊष्मा' शब्द पित्तवाचक है। उसको भौम्य आग्नेय, वायव्य, और नाभस इन पांच प्रकारों में विभक्त किया जाना तथा इनके द्वारा अन्नगत पार्थिवादि आहारांशों का पाचन होना विचारणीय है। इस प्रकरण से ज्ञात होता है कि उनको (पञ्चात्मक लोकपक्षियों) को आहार गत भिन्न-भिन्न अंशों का भिन्न-भिन्न ऊष्माओं (पित्तों) द्वारा पाचित होना स्पष्ट हो गया था; फिर भी वे इस पाचन के व्यापार में अग्नि को ही प्रधान मानते थे। इस प्रकार अग्नि को अलग मानते हुए उसके स्वरूप आदि का कुछ भी विचार न हो, यह सम्भव नहीं। इस विषय में तंत्रोक्त—"वाम पार्श्वाश्रितं नाभेः किञ्चित् सोमस्य मण्डलम्। तन्मध्ये मण्डलं सौर्यं तन्मध्येऽग्निर्व्यवस्थितः॥ जरायुमात्र परिच्छन्नः

काचकोषस्थ दीपवत् ॥" तथा "स्थूल कायेषु सत्वेषु यवमात्र प्रमाणतः। ह्रस्व कायेषु सत्वेषु तिलमात्र प्रमाणतः ॥" इत्यादि वचनों का अनुमान के लिये उद्धृत करना अनुचित न होगा। यही कारण है कि "जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः॥ सौक्ष्म्याद्रसानादादानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥" (सु० सू० ३५) इत्यादि वचन कहे गए हैं।

आमाशय के नीचे 'पित्तधरा कला' है। इस कला के भीतरी हिस्सों में 'श्लेष्मधरा कला' है। इस पर अन्न की अम्लता का वास्तव में आमाशय गत अम्लपित्त का अन्न से संयोग संस्कार होते ही यकृत् और क्लोम में पित्त पैदा होकर स्रवित होने लगता है। आधुनिक वैज्ञानिक इसका कारण यह बतलाते हैं कि उक्त श्लेष्मधरा कला पर अन्नरस की अम्लता का संस्कार होने से 'मिश्रतत्त्व' नामक 'अभिषूत' (Secretin) पैदा होता है। इन अभिषूतों का यकृत्पाचक पित्तोत्पादक जीवाणुओं के साथ कुछ अज्ञात-सा सम्बन्ध है, जिसके कारण उक्त जीवाणु समीप के रक्त से अपेक्षित अंश लेकर पित्त का निर्माण करते हैं। इसकी पुष्टि चरक के "पित्तं रक्तस्य विकृतिः" इस वाक्य से होती है। इसी प्रकार क्लोम (Pancreas) भी पाचक पित्त तैयार करता है।

पित्त को ही अग्नि कहनेवालों का कथन है कि "तच्चादृष्ट हेतुकेन विशेषेण पक्वाशय मध्यस्थं पित्तं, चतुर्विधमन्नपानं पचति विरेचयति रसदोष मूत्रपुरीषाणि तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां

पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति। तस्मिन्पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा। (सु०सू० २१)॥ इस सूत्र में अन्य पित्त-स्थानों का अर्थात् अन्य पाचक पित्तों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी औदर्य पाचक पित्त को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपकारक कहा गया है। इसका कारण यह है कि इस पाचक पित्त के क्रिया के बाद ही अन्य पाचक पित्तों की क्रिया कार्यकरी होती है। यही कारण है कि आयुर्वेद में अन्य पाचक पित्तों की अपेक्षा इसको अधिक महत्त्व दिया गया है और इसका वर्णन भी अधिक उपलब्ध होता है। (देखें चरक सू० २०, और सुश्रुत सू० २१)।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो गया कि महास्रोत (Alimentry canal) की श्लेष्मधरा कला में उदकोत्पादक व पित्तोत्पादक अनेक पिण्ड हैं और वे जरायु से कांचके दीप की भांति परिच्छिन्न हैं और इन्हीं को क्रमशः सोम और सूर्यमण्डल कहा गया है। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न स्थानों पर पाचक पित्त की ग्रन्थियाँ हैं, जिनके स्रावगत पित्त से भुक्तान्न के भिन्न-भिन्न अंशों का पाचन होता है जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

१—मुखगत पाचक-पित्त

यह लाला ग्रन्थियों में उत्पन्न होता है। इसके अभिषूत द्रव को लाला (Saliva) कहते हैं। इससे पिष्ट पदार्थों (Starch) का पाचन होता है।

२—आमाशयस्थ पाचक-पित्त

इसका वास्तविक नाम अम्लपित्त या लवणाम्ल (Hy-

drochloric acid) है। परन्तु इसके साथ लाला और क्लेदक मिला रहता है और इस मिश्रण को ही 'जाठररस' (Gastric juice) कहते हैं। 'जाठररस' अम्ल कल्प और जंतुघ्न होता है। इसके पाचकपित्त में पौष्टिक पदार्थों के आमिषांश (Protein) को पचाने का धर्म है।

३—याकृत पाचक-पित्त (Bile)

यह पूर्वोक्त प्रकार से याकृत् जीवाणुओं द्वारा रक्त से उत्पन्न किया जाता है। यह पीला, हलका पीला, हलका लाल, और हलका हरा रंग का होता है। इसकी गंध कस्तूरी मायल के समान, रस-मधुरतिक्त और अनुक्षार होता है। इसमें सैंधव लवण, शारीर मद्य, वसा, क्लेदक कफ, रंजक और कुछ खनिजक्षार मिले रहते हैं। वसा के पाचन में यह 'क्लोम पित्त' का सहायक होता है। इससे पौष्टिक अन्न का पिण्डीभवन होता है। यह कुछ अंश में सर होता है।

४—क्लोम पाचक-पित्त (Pan creatic juice)

यह भी पूर्वोक्त तरीके से क्लोम में पैदा होता है। इसमें चार प्रकार के अभिषूत (अदृष्टहेतु) रहते हैं। जैसे (१) पोषक पाचक, (२) पिष्ट पाचक, (३) वसा पाचक, (४) दध्युत्पादक। अम्ल कल्प पौष्टिक द्रव्य के पाचन में जिस तरह पाचक पित्त (अम्ल पित्त या जाठररस) अधिक सफल होता है, इसी तरह क्षार कल्प पोषक द्रव्य के पाचन में 'पोषक

पाचक' अधिक सफल होता है। अम्ल पिष्ट पाचन से पिष्ट पदार्थों का पैष्टी शर्करा बहुत शीघ्र बनती है। अम्ल वसा पाचक से वसा का क्षीरीभवन होकर 'वसाम्ल' और 'वसामधु' बनते हैं। दध्युत्पादक से दूध का दधि बनता है। क्लोम पाचक पित्त क्षार कल्प और अन्न कोथ कारक होता है।

५—*क्षुद्रान्त्रस्थ पाचक-पित्त* (Succus intricus)

यह क्षुद्रांत्रगत सोममण्डलमध्यस्थ सूर्यमण्डलों से उत्पन्न होता है। इसके परिवर्त्तक संज्ञक अभिषूत रहते हैं। इसके द्वारा इक्षुशर्करा का मधुशर्करा और फलशर्करा में परिवर्तन होता है। यह पित्त मांसल द्रव्यों के पाचन में क्लोम पित्त का सहायक होता है। इसमें वसा की अपेक्षा पोषक द्रव्यों के पाचन का धर्म अधिक है। क्षुद्रान्त्र में अभिषूतों के द्वारा पिष्ट द्रव्य का दुग्धाम्ल तथा उससे अंगारिकाम्ल (Carbondioxide) उदजन (Hydrogen), नवनीताम्ल, बनता है। साथ ही पौष्टी भूस्सी या फोक का पृथक्करण होता है। अंगारिकाम्ल के पैदा होने से आंत्र में अनेक वायवीय द्रव्य (कटु प्रायजन्य वायु) पैदा होते हैं।

२—*रंजकपित्त*

इसके विषय में यह कहा गया है कि "यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निरिति संज्ञा स रसस्य रागकृदुक्तः ॥" (सु० सू० २१) अर्थात् यकृत्प्लीहा में रहनेवाले पित्त को रंजकाग्नि कहा गया है, वह रस को राग (लाल) करनेवाला है। और इस रंजक

के विषय में कहा गया है कि—"आहरस्य यस्तेजोभूतः सारः परम सूक्ष्मः स 'रस' इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानं, स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति।" और भी—"रंजितास्तेजसात्वाप्यः शरीरस्थेन देहिनाम्। अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते॥ (सु० सू० १३)। इस वर्णन में यद्यपि रंजक पित्त के द्वारा रस रंजन का ही संकेत है तथापि मरीचि के कथनानुसार शरीर के भिन्न-भिन्न वर्ण भी इस पित्त के कारण ही होते हैं। यकृत् में याकृत् जीवाणुओं के बीच में से पित्त-केशिकाओं (Bile Capilaries) की केशाकार शाखा-प्रशाखाएँ फैली हुई हैं। उक्त केशिकाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनमें एक रक्त-कण का भी प्रवेश होना असंभव है। अतः इनमें केवल आप्य-रस (रक्तवारि) रहता है। आहार जीवाणु इस आप्यरस का अपेक्षित अंश लेकर उससे याकृत् पित्त, पैत्तिक क्षार और रंजक पित्त तैयार करते हैं। शुद्ध रञ्जकपित्त के दो प्रकार हैं। (१) रक्तरञ्जक और (२) श्यावरञ्जक पित्त। दोनों में मिलवायु (प्राणवायु—Oxygen) रहता है। परन्तु पहले में दूसरे की अपेक्षा अधिक रहता है। रक्तरञ्जक पित्त (Billi rubin) पित्त से सारे शरीर में पीला, सुनहरा, नारंगी और लाल रंग की उत्पत्ति होती है और श्यावरञ्जक पित्त (Billi verdin) से शरीर का नीला और हरा रंग होता है। मनुष्य के पित्त में श्याव रंजक की अपेक्षा रक्तरंजक अधिक होता है। किन्तु शरीर में इनके मिश्रप्रकार पाये जाते हैं। जैसा कि—

१—लोहितरंजक पित्त

इसमें लोह रहने के कारण इसको लोहित कहा है। इसके दो प्रकार उपलब्ध होते हैं—समिल और अमिल या अल्प मिल। पहला प्रकार धमनीगत रक्त में रहता है। दूसरा प्रकार सिरागत रक्त में अथवा जब रक्त को मिलवायु (प्राणवायु) प्राप्त नहीं होता, तब समस्त रक्त में रहता है। मिलवायु को शोषित करने का धर्म इसमें है। एक रत्ती लोहित रंजक पित्त, १ माशा मिलवायु को शोषित करता है। इस अवस्था में रक्त का रंग बिल्कुल लाल रहता है। किन्तु इसमें मिलवायु की मात्रा जितनी कम रहती है, उतनी उसमें श्यावता रहती है। आयुर्वेद में रक्त के दो प्रकारों का—'जीवरक्त' तथा 'श्यावरक्त' का वर्णन उपलब्ध होता है। मिल वायुका कुछ अंश सिरागत अथवा श्यावरक्त में भी रहता है। कुछ विकृतियों में लोहित रञ्जक पित्त के मिल-वायु का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि वह आसानी से अलग नहीं होता।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि शुष्क रक्त अर्थात् लोहित रञ्जक से जो लोहरहित रञ्जकपित्त अलग किया जाता है वह यकृतस्थ 'रक्त रञ्जकपित्त' के बिल्कुल सदृश (समान) है। दोनों की उत्पत्ति एक ही जगह से होती है और रासायनिक परीक्षण द्वारा दोनों में एक समान द्रव्य पाये जाते हैं। लोहित रंजक पित्त के विघटन या न्यूनता से (आयुर्वेदानुसार पित्त-प्रकोप से) पाण्डु, कामला, हलीमक इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। यकृत में 'लोहित रञ्जकपित्त'

होता है और उससे उक्त रक्तरञ्जक और श्यावरञ्जक दोनों का पार्थक्य होता है। शेष लोह याकृत जीवाणुओं में संचित किया जाता है। लोहित रञ्जक पित्त जिस प्रकार यकृत् में पृथक् उपलब्ध होता है उस प्रकार प्लीहा में पृथक् नहीं उपलब्ध होता। प्लीहा के अन्तर्भाग (अन्तःप्लीहा) का रंग काला, लाल और भूरा है। इन वर्णों के देहाणुओं से ही यह बना हुआ है। रंगीन देहाणुओं के आसपास कुछ स्वयं चेष्टकण, रक्तकण और बड़े-बड़े लालकण रहते हैं। प्लीहा में रक्तस्थ श्वेतकण बनते हैं। प्लीहा-भिवृद्धि का या रक्तजन्य पाण्डुता का सम्बन्ध है। कुछ प्राणियों की प्लीहा में रक्तकण भी बनते हैं। रक्तकणों की जीवित यात्रा समाप्त होने पर वे कायाकल्प के लिये प्लीहा में आते हैं। यहाँ उनकी अनेक विशीर्यमाण अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं। आमाशय को रक्त की सहायता करने के लिए प्लीहा में रक्त का संचय होता है। प्लीहा में मरुत् युक्त द्रव्यों का पृथक्करण होता है। प्लीहा-न्तःस्रावी पिण्ड है। शरीर में इस प्रकार के कार्य करनेवाले कुछ और पिण्ड हैं। लोहरहित रंजकपित्त अन्यत्र सृष्टि में भी पाया जाता है। मनुष्य के मूत्र में भी यह रहता है।

क्षुद्रान्त्रस्थ रञ्जक पित्त

यह क्षुद्रांत्रस्थ क्षार तथा याकृत्पित्तस्थ रक्तरञ्जक पित्त के संयोग से उत्पन्न होता है। यह पुरीष में तथा रक्त के द्वारा मूत्र में पाया जाता है। इसके अनुसार उनको पुरीष-रञ्जक तथा मूत्र-रञ्जक भी कह सकते हैं।

वसा रञ्जक पित्त

यह वसा में तथा अण्डे की जर्दी में पाया जाता है।

त्वक्रञ्जक पित्त

बाह्यत्वक् में सबके नीचे स्तर में 'ताम्रा' नामक त्वक् है। उसमें रंगीन कण (मेलीना) पाया जाता है। इन कणों को तेजोधातु भी कहा गया है। (च० शा० ८, सु० शा० २)। इन कणों की वर्णभिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न मनुष्यों का भिन्न-भिन्न वर्ण देखने में आता है।

नेत्ररञ्जक पित्त

यह लोहयुक्त होता है। नेत्र के पोलके में यह रहता है। इस जाति का रञ्जक नीग्रो जाति की त्वचा में भी पाया जाता है। शरीर के किसी-किसी (संधानक) धातु में, अपरा में और नाड़ियों में भी यह पाया जाता है।

केशरञ्जक पित्त

बालों में अनेक प्रकार के रङ्ग रहते हैं। इन रङ्गों के कारण किसीके बाल काले, किसीके भूरे इत्यादि होते हैं। इसके अभाव में बाल सफेद हो जाते हैं।

३—साधक पित्त

इस पित्त के विषय में निम्न वर्णन उपलब्ध होता है।—

"यत् पित्तं हृदयस्थितं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः ॥" (सु० सू० २१)

अर्थात्—जो पित्त हृदय में रहता है उसको साधक अग्नि कहते हैं, अथवा उसमें स्थित अग्नि को साधक कहते हैं। वह मनप्रार्थित तथा अपेक्षित मनोरथों का साधक है। हृदय के विषय में, विशेषतः- हृद्गत् धातुप्रसाद के विषयमें दो प्रकार से विचार किया जाता था। एक करणवृत्तिरूप वायु की दृष्टि से और दूसरा आत्मस्थान की दृष्टि से। जब करणवृत्तिरूप वायु की दृष्टि से विचार होता था, तब हृदयस्थित धातुप्रसाद को शीर्षस्थित प्राण-संचार-क्षेत्र कहा जाता था। अर्थात् हृद्गत् धातुप्रसाद एक वायवीय द्रव्य माना जाता था। किन्तु जब आत्मा की दृष्टि से विचार किया जाता था, तब इसको (धातुप्रसाद) पित्त शब्द से सम्बोधित किया जाता था। उक्त वर्णन इस दृष्टिकोण से किया गया है, जिससे आर्ष वैज्ञानिकों का यह वर्णन कि हृद्गत् धातुप्रसाद में ही लिङ्गदेहधारी जीवात्मा का निवासस्थान है, पूर्णरूपसे सहमत हो जाय।

उपनिषदों में ऐसा वर्णन मिलता है कि 'हृत्कमल' के अन्दर सूक्ष्मतर आकाश में अपने अन्न के (तत्रस्थ धातुप्रसाद) के सहारे 'जीवात्मा' स्थित रहता है। हृदय कमल से एक सौ एक सूक्ष्म ज्ञान-वाहिनियाँ निकलती हैं, जिनके सहस्रों प्रशाखाएँ होती हैं। हृत्कमलस्थ देहधारी आत्मा, इन नाड़ियों द्वारा बुद्धि, मन और इन्द्रियों तथा उनके विषयों की जानकारी प्राप्त करता है। 'मैं हूं', इसमें जो 'अहंभाव' अथवा व्यक्तित्व है वह जीवात्मा का परिचय है। योगी इस जीवात्मा को उदानवायु के द्वारा सुषुम्ना

नाड़ी के रास्ते ऊपर मूर्द्धा में ले जाते हैं और वहां (शिव के निवास होने से) जीव शिवात्मैक्य का अनुभव करते हैं। योगी इस जीवात्मा में लीन होकर जो चाहता है वह प्राप्त करता है" (छान्दोग्य, वृहदारण्यक आदि) आयुर्वेद में भी कहा है कि—

षडंगमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थ पञ्चकम् ।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम् ॥
प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते ।
गोपानसीनामागार-कर्णिकेवार्थचिन्तकैः ।
तस्योपघातान्मूर्च्छायान् भेदान्मरणमृच्छति ।
तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्य संग्रहः ।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सिते ।

च० सू० ३०

अर्थात् हृदय षड़ंग शरीर का केन्द्र है। उसमें ही अर्थ-ज्ञान और विज्ञान होता है। सगुण-आत्मा और मन हृदय में ही रहते हैं। उक्त भावों के प्रतिष्ठार्थ ही हृदय है। हृदय के आघात से मूर्च्छा और भेद से मरण होता है। इस हृदय में ही परंओज का स्थान है और उसमें चैतन्य का संग्रह है। सारांश यह है कि इस हृदयस्थित धातुप्रसाद को 'साधकपित्त' शब्द से सम्बोधित किया गया है और सम्भवतः आत्मा को अग्नि शब्द से। आत्मा को अग्नि शब्द से सम्बोधित करना तत्कालीन प्रथा के

अनुरूप है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि उक्त साधकपित्त का विवेचन उन सम्प्रदायों के अनुसार किया गया है, जो वायु द्रव्य का प्राणादि प्रकारों में विभाजन करते हैं। ये जिस प्रकार हृद्गत् धातुप्रसाद को पित्त कहते हैं, उसी प्रकार नेत्रगत धातुप्रसाद को भी पित्त की संज्ञा देते हैं।

४—आलोचक पित्त

इसके विषय में कहा गया है कि—"यत् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन् आलोचकोऽग्निरिति संज्ञा स रूपग्रहणेऽधिकृतः॥" (सु० सू० २१) अर्थात् जो पित्त दृष्टि में रहता है, उसको आलोचक-अग्नि कहते हैं। वह रूप ग्रहण करता है।

दृष्टि के विषय में आयुर्वेद में निम्न वर्णन उपलब्ध होता है—

"नेत्रायामत्रिभागन्तु कृष्णमण्डलमुच्यते।
कृष्णात्सप्तमिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टि विशारदाः॥
पक्ष्म-वर्त्म-श्वेत-कृष्ण दृष्टीनां मण्डलानि तु।
अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम्॥"

सू० उ० १

"मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूत प्रसादजाम्।
खद्योत विस्फुलिङ्गाभां सिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥

आवृतां पटलेनाक्ष्णो वाह्यं न विवराकृतिम् ।
शीत साम्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयन चिन्तकाः ॥

सु० उ० ७

नेत्र में बाह्य पटल के पीछे जो कृष्णमण्डल दिखाई देता है, उसके पीछे रंगीन धातुओं का बना हुआ विवरयुक्त 'दृष्टिमण्डल' है। शरीरशास्त्र की दृष्टि से दृष्टिमण्डलगत विकार को दृष्टि कहते हैं। दृष्टि शब्द का यदि इतना ही अर्थ स्वीकार किया जाय तो इस दृष्टि में अथवा विवर में जो 'तेजोजल' भरा हुआ है, उसीको 'आलोचक पित्त' कहना पड़ेगा। यह दृष्टि में बाह्य पटल के अन्दर तृतीय पटल तक भरा रहता है। क्योंकि "सिद्धां तेजोभिरव्ययैः" तथा "तेजो जलाश्रितं बाह्य" इस तरह का वर्णन इसके सम्बन्ध में उपलब्ध होता है। यह तेजोजल रक्त से पसीजनेवाला एक तरल है। इन्द्रियधर्मशास्त्र की दृष्टि से यह तेजोजल वक्रीकरण साहित्य में से एक है। इसके द्वारा प्रकाश किरणों का वक्रीभवन होता है। किन्तु रूपग्रहण की दृष्टि से विचार किया जाय, तो यहाँ 'दृष्टि' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक करना होगा। रूपग्रहण अथवा आलोचक शब्द यद्यपि सामान्यतः उन सब व्यापारों का वाचक है, जिनसे कि बाह्य दृश्य का प्रतिविम्ब चतुर्थ पटल के लिङ्गभाग पर पड़ता है तथापि उसका विशिष्ट अर्थ रूपज्ञान है और यहाँ यही अभिप्रेत भी मालूम होता है।

ऋषियों को यह भलीभाँति मालूम था कि रूपज्ञान में 'लिङ्ग-भाग' ही प्रधान कारण है और लिङ्गनाश से रूपज्ञान कतई नष्ट हो जाता है। अतः इस पित्त-विवेचन में दृष्टि शब्द की व्याप्ति चतुर्थ पटलस्थित धातुप्रसाद तक बढ़ाना आवश्यक है।

दृष्टिसंज्ञक विवर का और चतुर्थ पटल का सम्बन्ध इस प्रकार है कि दृष्टिमण्डल का जो भाग दृष्टि के अन्दर खुला हुआ है, उसके पिछले भाग में एक रङ्गीन अणु-अवयवों का स्तर है। यह तह (स्तर) चतुर्थ पटल के रङ्गीन स्तर का आगे की ओर बढ़ा हुआ भाग है। दृष्टिविवर के पीछे 'तृतीय पटल' वा अक्षिकाच (Lens) है। यह मेद का बना हुआ (मेदस्तृतीय पटलम्) पारदर्शक बाह्य गोल है। इसके पीछे भाग में 'अक्षिश्लेष्मा' है जो कि पारदर्शिका कला से ढँका हुआ है। इस अक्षिश्लेष्मा के पीछे चतुर्थ पटल है। इस चतुर्थ पटल में 'लिङ्ग' नामक एक भाग है। इसका व्यास ३/४ अङ्गुल और रंग ईषत्पीत है। इस मध्य भाग में एक दबा हुआ अंग है, उसको 'लिङ्गनाभि' कहते हैं। लिङ्ग-भाग के और उसके आसपास के नाड़ी-जाल को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि यह मस्तिष्क का परिवर्द्धित रूप है। लिङ्ग-भाग में शंकाकृति अणु-अवयव है। प्रकाश से इनमें हलचल उत्पन्न होती है। इसके पास अणु-अवयवों की रङ्गीन स्तर है।

किसी भी लक्ष्य से परिवर्तित होनेवाले प्रकाश किरणों को क्रमशः कृष्णमण्डल, दृष्टि, तेजोजल, अक्षिकाच और अक्षिश्लेष्म-

इन अवयवों में से पार होकर लिङ्ग-भाग पर पड़ना आवश्यक है। तब रूप का ग्रहण होता है। प्रकाश-किरणें जब नेत्र में प्रविष्ट होती हैं, तब उनका कृष्णमण्डल, तेजोजल, अक्षिकाच और अक्षिश्लेष्मा, इनकी बाह्यगोलता तथा सापेक्ष्य घन-विरलता के कारण 'बक्रीभवन' होता है। फलतः फैली हुई प्रकाश-किरणें सिमिट जाती हैं और बड़े से बड़े दृश्य की प्रतिमा उसके अन्दर अत्यल्प अवकाश या विन्दु में समा जाती है।

रूप-ग्रहण के लिये उक्त 'प्रतिमाविन्दु' का 'लिङ्गभाग' पर पड़ना आवश्यक है। जब तक उक्त नेत्रगत प्रतिमाविन्दु लिङ्ग-भाग पर ठीक केन्द्रित न होगा (आगे या पीछे पड़ता होगा) तब तक रूप ग्रहण नहीं होगा। यह कार्य नेत्रगत 'केन्द्रीकरण साहित्य' के द्वारा सम्पन्न होता है।

पास का या उजियाले का दृश्य देखने के समय 'वर्त्तुल स्नायु' सङ्कुचित होता है, फलतः दृष्टिमण्डल और दृष्टि दोनों ही सिकुड़ जाती हैं और इससे प्रकाश किरणों का नियमन होता है। इसके विपरीत अर्थात् अँधियारे में दृष्टि विस्तृत होती है। दृष्टि के इस आकुञ्चन-प्रसार से देखने में बड़ी सुविधा होती है। दूर का दृश्य देखने के समय 'नेत्रकण्डरा' मध्य पटल को आवश्यक सीमा तक आगे-पीछे तानती है। इस तनाव के कारण तृतीय पटल का पुरोभाग भी आगे की ओर तन कर अधिक बहिर्गोल बन जाता है। इस व्यापार से प्रकाश-किरणों का उक्त नेत्रगत प्रतिमा-विन्दु लिङ्गभाग पर ठीक-ठीक केन्द्रित होता है।

इस प्रकार जब बाह्य दृश्य की प्रतिमा लिङ्गभाग पर पड़ती है, तब तत्रत्य शंकाकृति अणु-अवयवों के तथा नाड़ियों के कारण रूपज्ञान होता है। अतः प्रस्तुत में दृष्टि शब्द का अर्थ व्यापक करके अत्रत्य धातु-प्रसाद को 'आलोचक पित्त' कहना उचित है। फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह विवेचन उन सम्प्रदायों को मान्य नहीं हो सकता, जो रूपग्रहण को प्राणधर्म (प्राणवायु) का कार्य मानते हैं।

५—*भ्राजक पित्त*

इसके सम्बन्ध में शास्त्रों में निम्न वर्णन उपलब्ध होता है—"यत्तुत्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरितिसंज्ञा ; सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहावलेपनादीनां क्रिया द्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः ॥" (सु० सू० अ० २१) अर्थात् जो पित्त त्वचा में रहता है, तद्गत अग्नि को भ्राजक कहते हैं। भ्राजक, मालिस, वफारें, स्नान, लेप आदि उपायों द्वारा व्यवहार की जानेवाली औषध द्रव्यों का पाचन करता है और छाया को प्रकाशित करता है।

त्वचा के द्वारा कई प्रकार की औषधियों को तथा स्नेहों को शोषित कराया जाता है। भ्राजक पित्त इन शोषित पदार्थों का पाचन करके उनको शरीर धातुओं में उपशमन करने योग्य बनाता है। वाग्भट ने अपने भ्राजक पित्त के विवरण में इस कार्य का उल्लेख नहीं किया है।

साधारणतया मनुष्य काले, काले-श्यामले, निमगोरे, गोरे

होते हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ प्राकृतिक वर्ण मनुष्यों के पाये जाते हैं। परन्तु केवल नील, केवल श्याम, केवल ताम्र, हरित तथा श्वेत वर्ण अप्राकृतिक वर्ण कहे गये हैं। वर्ण प्रभा और छाया से युक्त होता है। कोई भी पुरुष बिना प्रभा और छाया के नहीं होता। प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है और छाया उसे तिरोहित करती है। प्रभा दूर से भी चमकती है, पर छाया पास से ही दिखायी पड़ती है। प्रभा तेज-सी होकर पुनः सात प्रकार की हो जाती है; जैसे—रक्ता, पीता, श्यामा, हरिता, पाण्डुरा और कृष्णा एवं चित्रा। छाया दो प्रकार की होती है—छाया और प्रतिच्छाया। छायावर्ण प्रभाश्रिता होती है और इसके सुषमा और विषमा—दो प्रकार हैं। चूँकि शरीर पञ्च-महाभूतों का बना हुआ है, अतः छाया भी तदनुसार अनेक प्रकार की हो जाती है जैसे; (१) नाभसी—निर्मला, सस्नेहा, सप्रभा होती है। (२) वायवी छाया—श्यावारुणा, हतप्रभा होती है। (३) आग्नेयी छाया—रक्ता, दीप्ताभा, वो दर्शनप्रिया होती है। (४) आप्या छाया—स्फटिक विमला व सुस्निग्धा होती है। (५) पार्थिवी छाया—स्थिरा, स्निग्धा, घना, श्लक्ष्णा, श्यामा वो श्वेता होती है। प्रतिच्छाया, संस्थान-आकृति को लक्षित करनेवाली होती है। इसके संस्थान—जल, ऐना, आतप आदि हैं और आकृति अल्प, महान और मध्य होती है। भ्राजक पित्त व प्रभा दोनों तैजस होने के कारण भ्राजक प्रभा की वृद्धि करता है और प्रभा छाया को प्रकाशित करती है। इस भ्राजक पित्त

का सम्बन्ध हमारी राय में 'वसाख्यतेज' से है। यह तेज मांसधरा त्वक् में रोमकूपों के नीचे जो स्निग्धपिण्ड है, उसमें रहता है और त्वचा को मृदु, स्निग्ध और कांतियुक्त रखता है। इसमें पक्तिधर्म भी है ; जैसा कि 'तेन मार्दव सौकुमार्यमृद्वल्परोमतोत्साह दृष्टि स्थिति पक्तिकांतिदीप्तयो भवन्ति' इस सूत्र में स्वीकार किया गया है। और इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर वसाख्य तेज की व्याप्ति के अनुसार भ्राजक पित्त को भी अधिक व्यापक बनाना उचित हो जाता है।

कफ धातु

स्वरूप[1]

श्वैत्य, शैत्य, गौरव, स्नेह, माधुर्य, स्थैर्य, पैच्छिल्य, मात्स्न्यं, ये सब श्लेष्मा के (कफ के) आत्मरूप कहे गये हैं। अविदग्धावस्था में यह मधुर और विदग्ध होने पर लवण रसप्रधान होता है। यह प्रकृत् रूप में बल और विकृत रूप में मलसंज्ञक होता है। यही 'बल' रूप में स्थित 'ओज' भी

१—"तथा च श्वैत्य शैत्य गौरव स्नेह माधुर्य स्थैर्य पैच्छिल्य मात्स्न्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि।" (च० सू० २०) "श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः, पिच्छिलः शीत एव च। मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्विदग्धो लवणः स्मृतः॥"

सु० सू० २१

"प्राकृतस्तु बलं श्लेष्माविकृतो मल उच्यते।
सचैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते॥ च० सू० १७

कहलाता है और मल रूप में पाप्मा कहा जाता है। अर्थात् शरीर के अन्दर उक्त गुण-सम्पन्न जो पदार्थ देखने में आता है, वह सब श्लेष्मा का ही रूप है। तात्पर्य यह कि शरीर में श्लेष्मा की स्थिति का ज्ञान उक्त गुण विशिष्ट पदार्थों की स्थिति से 'गुण-गुणिनोरभेदः' इस नियम के अनुसार होता है।

गुण[1]

गुरु, शीत, स्निग्ध, मधुर, स्थिर, पिच्छिल—ये सब कफ के गुण हैं अर्थात् शरीर में गुण कफ (श्लेष्मा) के कारण ही होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि इनके विपरीत गुणवाले द्रव्यों के सेवन से इनका ह्रास और समान गुणवाले द्रव्योंके सेवन से इनकी वृद्धि होती है।

कर्म

शरीर के अन्दर स्नेहभाव उत्पन्न करना, बन्धनों को स्थिर रखना, गुरुता उत्पन्न करना, वृषता तथा बल को कायम रखना और बढ़ाना, क्षमा, शक्ति उत्पन्न करना, धैर्य तथा अलोभ को उत्पन्न करना ये सब प्रकृत श्लेष्मा के कर्म हैं।

कफ आप्य धातु तथा सौम्य धातु होने से शरीरस्थ सभी धातुओं में आर्द्रता उत्पन्न करता है और उन्हें सूखने से बचाता है। मानव-शरीर के अन्दर पाकादि-पित्त की प्रक्रिया तथा शोषण आदि वात की क्रिया सदा चलती रहती है, अतः उक्त

१—गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीत गुणैर्गुणाः॥ च० सू० १

प्रक्रियाओं को सुचारु-सम्पन्न होने के लिए तथा पाकाधिक्य एवं शोषणाधिक्य से बचाने के लिये शरीर में सर्वत्र स्नेहभाव (कफस्राव) का बनाए रखना आवश्यक है। यह कार्य कफ द्वारा सम्पन्न होता है। शरीर की अस्थिसंधियाँ स्नायुओं से सन्नद्ध रहती हैं और संधियों का सर्वदा संचालन होते रहने से, यदि उनमें स्नेह का अभाव हो जाय तो सन्नद्ध स्नायु अस्थियों से घिस कर नष्ट-भ्रष्ट हो जायंगे और संधिभ्रष्ट आदि व्याधि उत्पन्न कर देंगे। अतः उक्त सौकार्य के लिये तथा संधिभ्रष्ट आदि विपत्तिओं से बचाने के लिये सदा कफ का स्राव (Semnial Fluid) होता रहता है। इस प्रकार कफ का दूसरा कार्य संधियों के बन्धन को दृढ़ रखना कहा गया है। इसी प्रकार शरीर के अन्दर स्थिरता, गुरुता, वृष्यता, तथा बल (सहिष्णुता) आदि कफ के कारण ही रहते हैं। ये कार्य कफ के उपचय (बढ़ाने के) धर्म के कारण होते हैं। कफ सौम्य होने से सोम की भाँति सदा शरीर के अन्दर अपने विसर्ग गुण से उक्त कार्यों को करता है। क्षमा—किसी के किये हुए अपकार का बदला न लेना, उसे सह लेना, और उसके प्रति प्रतिशोध की भावना न उत्पन्न करना आदि गुण भी कफ के ही हैं। धैर्य—किसी कार्य में घबड़ाना नहीं, उसे धीरतापूर्वक करना यह भी कफ का ही कर्म है। लोभ का न होना भी कफ के ही कारण होता है। ये तीनों (क्षमा, धृति और अलोभ) तमः प्रभव हैं और स्वभाव से ही श्लेष्मा तमोगुण-प्रधान होता है। अतः ये कार्य कफ के कारण ही शरीर में होते

हैं। प्रकृत तमोगुण सत्वादि का नियमन करता रहता है। इसी लिये प्रकृत श्लेष्मा को शरीर का बल कहा गया है। बल के द्वारा ही शरीर की अनिष्टों से रक्षा होती है। इसीसे शास्त्रों में कहा है कि—बलं ह्युक्तं निग्रहाय रोगाणाम्"—इत्यादि।

कफ के प्रकार

कार्य के अनुसार श्लेष्मा के भी पांच प्रकार किये गए हैं—यथा—क्लेदक, अवलम्बक, बोधक, तर्पक और श्लेषक।

१—क्लेदक कफ

इसके विषय में कहा गया है कि "तत्र आमाशयः × × × × चतुर्विधस्याहारस्याधारः, सच तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति। माधुर्यात्पिच्छिलत्वाच्च, प्रक्लेदित्वात्तथैव च। आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुर शीतलः॥ स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या श्लेष्मणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्थोदक कर्मणाऽनुग्रहं करोति॥" (सु० सू० २१) अर्थात् आमाशय चतुर्विध अन्नपान का (पहला) आधार (स्थान) है, उसमें तत्रस्थ उदकगत गुणों के द्वारा आहार पतला होता है, उसके कण अलग-अलग होते हैं और वह पाचन योग्य बनता है। (यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि भुक्त आहार पर पाचक रसों का तभी कार्य सुसम्पन्न हो सकता है, जब उनका सूक्ष्म कणों में विघटन होकर घोल बन जाता है)। उक्त उदक के माधुर्य से तथा पिच्छिल एवं प्रक्लेदी गुणों से यह सिद्ध होता है कि मधुर और

सोमात्मक श्लेष्मा सर्वप्रथम आमाशय में उत्पन्न होता है। आमाशयस्थ यह श्लेष्मा ही अपनी शक्ति से तथा उदक कर्म से अन्य श्लेष्मस्थानों को भी उपकृत करता है।

महास्रोत की श्लेष्मधरा कला में सूर्यमण्डलों के सदृश ही सहस्रों 'सोम-मण्डल' हैं और उनसे क्लेदक (कफ) स्रुत होता रहता है। इसके भी स्थानों के अनुसार प्रभेद किये जा सकते हैं। जैसे—(१) मुखगत क्लेदक—यह कर्णमूलस्थ पिण्डों से, तथा ष्ठीवक (हन्वधरी और जिह्वाधरी) पिण्डों से स्रुत होता है और लाला रस में मुखगत पाचक पित्त के साथ मिला रहता है। लाला रस में इसके साथ 'बोधक' कफ भी होता है जिसका वर्णन आगे किया जायगा। अन्न कणों को अलग-अलग करना जो कि एक रासायनिक कार्य है; मुख्यतः लालास्राव नामक अभिषूतों का अर्थात् मुखस्थ पाचक पित्त का है। परन्तु यह कार्य सुखपूर्वक होने के लिये क्लेदन की आवश्यकता होती है।

२—*आमाशयगत क्लेदक*

आमाशय की उपश्लेष्मिक कला में जो श्लेष्मपिण्ड है, उनसे यह स्राव होता है और जाठर रस में अम्लपित्त (लवणमात्र) के साथ मिला रहता है। यह आमाशय के श्लेष्मिक कलाओं को दग्ध होने से बचाता है और महास्रोत के आमाशयिक भाग को क्लिन्न रख उसको मृदु बनाए रखता है

३—क्षुद्रान्त्रगत क्लेदक

क्षुद्रान्त्र की उपश्लेष्मीकला में सर्वत्र सोममण्डलों के गुच्छ हैं, जो सूर्यमण्डलों को घेरे हुए रहते हैं। इनसे 'क्लेदक' का स्राव होता रहता है। इनका कार्य क्षुद्रांत्र के दिवालों को सदा क्लिन्न रख मृदु बनाए रखना है, जिससे इनका संकोच-प्रसार सुखपूर्वक हो सके।

४—वृहदांत्रगत क्लेदक

बड़ी-आँतों के सोममण्डल छोटी आँतों की अपेक्षा बड़ी होती है। उनसे उत्पन्न हुआ या, स्रुत हुआ 'क्लेदन' आँत की दिवारों को मृदु बनाता है और मल को नीचे धकेलने में आँतों के आकुंचन-प्रसार में सहायक होता है।

नोट—उपर्युक्त वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरगत उदक सिद्धान्ततः श्लेष्मा का ही रूप है और उसको सदा क्लेदक करता रहता है। ऐसी परिस्थिति में पित्तगत उदक भी इसका ही अंश प्रतीत होता है। यही कारण है कि लाला रस में तथा यकृत्-पित्त में पिच्छिल गुण देखने में आता है। यह गुण श्लेष्मा का ही है।

२—अवलम्बक कफ

इसके विषय में निम्न वर्णन उपलब्ध होता है—"उरःस्थः क्लिकसंधारणमात्म वीर्येणान्नरस सहितेन हृदयावलम्बनं करोति।" (सु० सू० २९) अर्थात् यह क्लेदक ही उरोभाग में संचार करके क्लिक् (उर्ध्वक्लिक्) को धारण करता है और अन्नरस से युक्त

अपनी शक्ति से हृदय का अवलम्बन करता है। अतः इसको 'अवलम्बक कफ' कहते हैं। यह श्लेष्मा 'अवलम्बिका कला' में रहता है। अवलम्बिका कला फुफ्फुसावरण और हृदयावरण इनके दो तहों के बीच में रहती है। इसमें एक तरल अत्यल्प मात्रा में रहता है। इसमें रसधातु मिश्रित रहता है। इस तरल की वहां इतनी ही मात्रा रहती है; जिससे फुफ्फुस तथा हृदय को किसी प्रकार से रगड़ या धक्का न लगने पाये और उनका निमेषोन्मेष भी सुखपूर्वक होता रहे। इस तरल के अर्थात् 'अवलम्बक कफ' के विकृत होने से ही उरस्तोय नामक भयंकर बीमारी होती है। अवलम्बिका कलात्रिक में बंधी हुई है और वहां से ही (सम्भवतः) अवलम्बक का आगमन होता है।

३—बोधक कफ

इसके विषय में कहा गया है कि "जिह्वामूल कण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने प्रवर्त्तते ॥" (सु० सू० २१) अर्थात् बोधक कफ जिह्वामूल व कण्ठ में रहता है। जिह्वेन्द्रिय सोम गुणात्मक होने के कारण उससे रसज्ञान करने में समर्थ होती है। रसज्ञान यद्यपि धातुप्रसाद के कारण अर्थात् प्राण धर्म (प्राणवायु जो स्वादग्राहिणी नाडियों में रहती है) के कारण होता है तथापि रसज्ञान के लिये द्रव्य का घुलना आवश्यक होता है। जब तक द्रव्य द्रवरूप नहीं धारण करता उसके रस का बोध नहीं होता; अतः बोधक कफ से उसे गीला होना आवश्यक है। बोधक कफ जिह्वाधःस्थ 'बोधक कफ' पिण्डों से स्रुत होता है।

४—तर्पक कफ

इसके विषय में यह कहा गया है कि "शिरःस्थः स्नेह संतर्पणाधिकृतत्वात् इन्द्रियाण्यात्म वीर्येणानुग्रहं करोति।" (सु०सू०२१) अर्थात् तर्पक कफ शिर में रहता है। स्नेहन (चिकनाहट) और तर्पण (तरी रखना) उसका कार्य है। यह अपने उक्त कर्मों से समस्त इन्द्रियों को अनुगृहीत करता है।

मस्तिष्क और सुषुम्ना शीर्षक के बीच में पक्ष्मापरा (Cilliated Epithelium) की बनी हुई एक थैली है जिसमें यह भरा रहता है। यह मस्तिष्क तथा सुषुम्ना को भीतर से तर रखता है। साथ इसके आवरणों के बीच में और उसकी सतह पर फैल कर बाहर से भी तर रखता है। काप्यऋषी ने सम्भवतः इसी के उपलक्षण में यह कहा है कि "अकुपित श्लेष्मा उत्साह, ज्ञान, बुद्धि, क्षमा, धृति, अलोभ आदि भावों को उत्पन्न करता है और कुपितश्लेष्मा आलस्य, अज्ञान, मोह आदि तद्विपरीत भावों को।" इस 'तर्पक' की विकृति से ही मोह ज्वर (Menengitis मस्तिष्क प्रदाह) नामक भयंकर विकृति पैदा होती है। इस तर्पक के द्वारा अन्य सभी इन्द्रियों का भी तर्पण होता है अतः यह कहा गया है कि जहां-जहां पक्ष्मापरा है वहां-वहां 'तर्पक कफ' रहता है। क्योंकि पक्ष्मापरा शरीर में अन्यत्र भी है। अतः उससे अर्थात् तद्गत श्लेष्मपिण्डों से भिन्न २ प्रकार की श्लेष्मा का स्राव होता रहता है और उनका प्रधान कार्य तर्पण तथा स्नेहन ही होता है। उदाहरणार्थ—श्वास-मार्ग के अन्दर की

श्लेष्मधारा-कला में पक्ष्मापरा है और तद्गतपिण्डों से एक प्रकार की श्लेष्मा का स्राव होता है। उसी तरह दोनों अपस्तम्भों और उनकी शाखा-प्रशाखाओं की दिवालों में भी पक्ष्मापरा है। फुफ्फुस में इस तर्पक के साथ श्लेषक कफ भी रहता है। नासा के भीतरी भाग में पक्ष्मापरा है और वहां कतिपय पिण्ड भी हैं और इन पिण्डों से पैदा होनेवाले तरल से नासा का भीतरी भाग तर होता रहता है और इस तरी से गन्ध के ग्रहण में सहायता मिलती है। स्त्रियों के गर्भाशय और फलवाहिनी में भी पक्ष्मापरा है और उससे उत्पन्न होनेवाला तरल, स्त्री प्रजननेन्द्रिय का तर्पण करता है। इसी तरह पुरुष के वृषणगत उर्ध्वगामी स्रोतों में पक्ष्मापरा है और उससे भी एक प्रकार का स्राव होता है। सारांश यह कि पक्ष्मापरा से उत्पन्न होनेवाला स्राव सामान्यतः 'तर्पक कफ' है।

५—श्लेषक कफ

इसके विषय में निम्न वर्णन उपलब्ध होता है—"संधिस्थस्तु श्लेष्मा सर्व सन्धि संश्लेषात् सर्वसंध्यनुग्रहं करोति।" (सु० सू० २१) अर्थात् श्लेषक कफ संधियों में रहता है और सब प्रकार की संधियों को संश्लेषित (तरी देकर) कर अनुगृहीत करता है।

शरीरगत उदक अथवा क्लेदक में रहनेवाले पिच्छिल गुण से इसका बोध होता है। शरीर में इसके अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं जो भिन्न २ स्थानों पर अपने उत्पादक अणुअवयों अर्थात् पिण्डों से उत्पन्न होते हैं; उसके अनुसार उनके रासायनिक

संगठन में और गुणधर्मों में भी भिन्नता रहती है। लाला, जाठररस, पित्त, मूत्र, तथा शरीर से उत्पन्न होनेवाले अन्य अनेक प्रकार के रसों में रहते हैं। प्रत्येक अणु अवयवों (Cells) में तथा उनकी संधियों में, कलिकाओं में, धातुओं में, पर्वों में, प्रतानों में ये उपलब्ध होते हैं। इनमें कुछ धर्म समान होते हैं। यद्यपि ये सब श्लेषक हैं तथापि इन सबका जो मूलभूत द्रव्य है वही मुख्य है और उसको ही श्लेषक (Mulis) कहना उचित है।

दूसरा अध्याय

१—त्रिदोष का द्रव्यत्व प्रतिपादन

द्रव्य की परिभाषा में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "यत्रा-श्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायियत् तद्द्रव्यम्" (च० सू० १) अर्थात् जिसमें (संयोग विभाग का कारण-परिस्पन्दन आदि लक्षणवाला) चलनात्मक कर्म और रूप आदि गुण समवाय (नित्य) सम्बन्ध से आश्रित हो और जो कार्य द्रव्य के प्रति समवायि कारण (उपादान कारण) हो, उसे द्रव्य कहते हैं। वात-पित्त तथा कफ इन तीन दोषों या धातुओं के गुण तथा कर्म शास्त्रों में स्पष्टरूप से वर्णित है और ये तीनों शरीररूपी कार्य द्रव्य के प्रति उपादान कारण हैं अतः उक्त द्रव्य के लक्षण के अनुसार ये तीनों भी द्रव्य सिद्ध होते हैं।

त्रिदोष के सम्बन्ध में अनेक भ्रमात्मक विचार उपलब्ध होते हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों ने इसे आचार्यों की कोरी कल्पना कहने की भी धृष्टता की है। उनका कहना है कि वात, पित्त तथा कफ नामक कोई पदार्थ शरीर के अन्दर प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होते। परन्तु शरीर के विविध क्रियाओं को समझने के लिये इनकी कल्पना शास्त्रकारों ने की है। इस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य है कि किसी विषय के प्रतिपादन के पूर्व प्रतिपाद्य विषय

की सत्यता की जाँच कर लेना आवश्यक है। अतः कल्पना किसे कहते हैं पहले इसका निर्णय कर लेना होगा। यदि "मृगतृष्णा म्भसि स्नातः ख पुष्पकृतशेखरः। एष बन्ध्यासुतोयाति शशशृंङ्ग धनुर्धरः॥" इत्यादि के समान अवस्तु में (जिनका कोई अस्तित्व न हो) सुन्दर सुललित पदों द्वारा वस्तु का सत्याभास कराना ही कल्पना है, तो उन्हें यह विश्वास करना चाहिये कि 'त्रिदोष' या 'त्रिधातु' इस प्रकार की असत्य कल्पना जाल नहीं है। अपितु शास्त्र (विज्ञान) रूपी कसौटी पर (चतुर्विध प्रमाणों द्वारा) कसा हुआ खरा सोना है जो प्राणिमात्र के शरीर का मूलोपादान (सत्य वस्तु) है।

वस्तुतः कल्पना तो उस मानसिक शक्ति का नाम है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये अनुभव का ज्ञान हमें उसकी अनुपस्थिति में होता है। हम अपने संस्कारों के आधार पर ही पुराने अनुभव को मानस-पटल पर चित्रित कर सकते हैं। जिस इन्द्रिय द्वारा किसी प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव होता है उसी इन्द्रिय-ज्ञान से सम्बन्धित कल्पना पदार्थ भी होता है। किन्तु साधारणतः हमारी कल्पना में अनेक इन्द्रिय-ज्ञान का सम्मिश्रण होता है। जो हम देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श करते हैं और सूँघते हैं अथवा जो ज्ञान हम किसी पदार्थ को हिला-डुला कर, उठाकर या छूकर प्राप्त करते हैं, वह सब ज्ञान एक-दूसरे में सम्मिश्रित होकर ही पदार्थ-ज्ञान होता है।

आयुर्वेद के आचार्यों ने मानव-शरीर के अन्दर विविध

गुण तथा कर्म का अवलोकनकर, उनके कारणों का पता लगाया है और इस सत्य को खोज निकाला है कि मानव-शरीर के अन्दर रौक्ष्य, लाघव, शैत्य, खरता, सूक्ष्मत्व तथा चलत्वादि भाव रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म और चल गुणवाले वात द्रव्य के कारण ही हैं। इसी प्रकार शरीर का ईषत् स्नेह, तैक्ष्ण्य, औष्ण्य, विस्र, सर तथा द्रवत्वादि भाव तद्गुण विशिष्ट पित्त-द्रव्य के कारण और गौरव, शैत्य, मार्दव, स्निग्धत्व और पिच्छिलत्व भाव इन गुणोंवाले कफ-द्रव्य के कारण ही हैं। उच्छ्वास, निःश्वास, चेष्टा, समधातुगति, गतिमान भावों का बाहर निकालना आदि कर्म वात-द्रव्य के, दर्शन, पक्ति, (शरीरगत विविध पाक), ऊष्मा, क्षुधा, तृष्णा, देहमार्दव, प्रभा, प्रसन्नता, मेधा आदि कर्म पित्त-द्रव्य के तथा स्नेह, बन्ध, स्थिरत्व, गौरव, वृषता, बल, क्षमा, धृति, अलोभ आदि कर्म कफ-द्रव्य के हैं। उक्त गुणकर्म इनके प्रकृत-अवस्था के हैं। जब ये विकृत होते हैं तब विकृति के अनुसार इन गुण-कर्मों में भी विकृति आ जाती है।

उक्त गुण कर्म वातादि के कारण ही हैं, इसका प्रमाण यह है कि जब हम तद्गुण विशिष्ट द्रव्यों का सेवन करते हैं तो स्पष्ट रूप से अपने-अपने गुण-कर्म के अनुसार ये वातादि बढ़ते और घटते हैं। अर्थात् जब हम रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म और चल गुण विशिष्ट द्रव्यों का उपयोग करते हैं तो वायु की वृद्धि होती है और विपरीत गुणवाले कफ का ह्रास होता है, इसी प्रकार वायु के

विपरीत गुणवाले स्निग्ध, मधुर, गुरु, पिच्छिल द्रव्यों के सेवन से वायु की शान्ति तथा तद्गुण विशिष्ट कफ की वृद्धि होती है। तीक्ष्ण, उष्ण, विस्र, अम्ल, कटु गुणवाले द्रव्य पित्त को बढ़ाते हैं और इसके विपरीत शीत, मधुर, कषाय गुणवाले द्रव्य पित्त को शान्त करते हैं। साथ ही यह भी देखने में आता है कि जो कर्म वातादि के शास्त्रों में कहे गये हैं; वातादि की वृद्धि से उन कर्मों की वृद्धि तथा उनके ह्रास से उनका ह्रास होता है। अतः इस अन्वय व्यतिरेक से वातादि के उक्त गुण-कर्म निर्दोष सिद्ध हो जाते हैं। इन सभी तथ्यों का अवलोकन इस नियम की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि "सर्वथा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धि कारणम्। ह्रास हेतुर्विशेषश्च।" (चरक) अर्थात् सभी अवस्थाओं में सामान्य (जाति) अपने सामान्य भावों का (अपनी जाति का) बढ़ानेवाला होता है और विशेष उसका (अपने विजातीय का) ह्रासक होता है। वातादि द्रव्यों की वृद्धि तथा ह्रास भी उक्त नियम के अनुसार उन द्रव्यों से हुआ करता है जो क्रमशः वातादि द्रव्यों के सामान्य गुण-कर्म वाले द्रव्य हैं। इस वृद्धि और ह्रास में क्रम इस प्रकार होता है कि द्रव्य सामान्य से द्रव्य की वृद्धि, गुण सामान्य से द्रव्यगत गुण की वृद्धि तथा कर्म सामान्य से द्रव्यगत कर्म की वृद्धि होती है और उनके विशेष से उनका क्रमशः ह्रास होता है।

मानव शरीर के अन्दर तीन प्रधान क्रियाओं का स्पष्ट रूप से अवलोकन होता है; जो इस प्रकार है—(१) वृद्धि, (२) ह्रास और

(३) गति या (१) सृष्टि, (२) संहार और (३) चेष्टा। उक्त तीनों कर्मों का कोई उपादान कारण शरीर के अन्दर अवश्य होना चाहिये। क्योंकि गुण तथा कर्म पृथक् पदार्थ होने पर भी किसी न किसी द्रव्य के अन्दर ही रहते हैं। और वह द्रव्य इनका उपादान (समवायि) कारण होता है। इनका सम्बन्ध भी नित्य होता है। हम अपने शरीर को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये नित्य आहार करते हैं। हमारा संतुलित आहार हमारे शरीर को स्वस्थ बनाये रखता है। परन्तु जो आहार जिस रूप में हम अपने शरीर को देते हैं वह उसी रूप में हमारे शरीरोपादान का घटक नहीं बन सकता। अतः उस आहार को इस योग्य बनाने के लिये उसके अन्दर अनेक परिवर्त्तन होते हैं। इस परिवर्त्तन के लिये एक प्रवर्त्तक की आवश्यकता होती है। अतः शरीर के अन्दर भुक्ताहार का सदा किसी परिवर्त्तक के द्वारा परिवर्त्तन होता रहता है। परिवर्त्तन पाकक्रिया के बिना कथमपि सम्पन्न नहीं होता। अतः परिवर्त्तक में पाक-क्रिया की क्षमता आवश्यक है। पाक अग्नि का धर्म है अतः परिवर्त्तक का आग्नेय होना अनिवार्य है।

आयुर्वेद में इस क्रिया का सम्पादक 'पित्त धातु' माना गया है और पित्त को आग्नेय (पित्तमाग्नेयम्) भी कहा गया है। अतः उक्त क्रियाओं का उपादान कारण शरीर का मूलघटकरूप आग्नेय पित्त-द्रव्य निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। परन्तु आग्नेय द्रव्य-पित्त की पाक प्रक्रिया तभी सम्पन्न हो

सकती है जब पाकार्थ उसे कोई द्रव्य मिले। यदि पाक-प्रक्रिया सदा चलनेवाले शरीर को पाक के लिये कोई द्रव्य न मिले तो उसकी स्थिति ही असम्भव हो जाय। साथ ही पाक-प्रक्रिया का नियमन होना भी आवश्यक है। नियमन के अभाव में पाक-प्रक्रिया समुचित नहीं चल सकती। उदाहरण रूप आप अन्न-पाक को ही लीजिये। अन्न पकाने के लिये केवल अग्नि तथा अन्न की ही आवश्यकता नहीं होती वरन् अन्नपाक को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिये पाक का नियामक जल भी आवश्यक होता है। अतः पित्त का नियामक एवं पाकार्थ कोई सौम्य उपादान आवश्यक है। यह कार्य शरीर का दूसरा मूल उपादान कफ के द्वारा सम्पन्न होता है। आचार्यों ने 'कफ' को सौम्य धातु कहा है। कफ के निरुक्ति से भी यह जलीय द्रव्य सिद्ध होता है। इसका दूसरा नाम 'श्लेष्मा' है। जिस प्रकार पित्त अपने पाकादि आग्नेय क्रियाओं द्वारा नाना विध परिवर्त्तन से शरीर धातु को अनुगृहीत करता है, उसी प्रकार कफ अपने सौम्य-गुण से शरीर के रचनात्मक कार्यों से तथा पित्त का नियमनकर शरीर को अनुगृहीत करता है। इस प्रकार उक्त दो मूलघटकों द्वारा शरीर का सृजन और विनाश सदा होता रहता है।

आयुर्वेद शास्त्र में उक्त कफ और पित्त दोनों को पङ्गु कहा है। इनमें क्रिया का अभाव होता है अतः ये दोनों गतिहीन हैं। पित्त में अग्नि तत्त्व का तथा कफ में पृथ्वी और जल तत्त्व का बाहुल्य होने से, इनमें गति का अभाव होना स्वभाविक है। ऐसी

परिस्थिति में उक्त सृजन और संहार की व्यवस्था किसी प्रेरक गत्यात्मक पदार्थ के बिना होना असम्भव है। अतः इनमें कर्तृत्व लानेवाला कोई गत्यात्मक प्रेरक होना चाहिये। जिस प्रकार अन्न तथा अग्नि की वर्त्तमानता मात्र से अन्न का पाक या परिवर्त्तन नहीं हो सकता। उनका उचित रूप से संयोग करानेवाला होना आवश्यक है उसी प्रकार उक्त कफ तथा पित्त में कर्तृत्व उत्पन्न करनेवाला कोई संयोजक होना चाहिये। जिस प्रकार मसीन को चालू करने के लिये केवल कोयला-पानी ही पर्याप्त नहीं होता उसे चालू करने में नियोजक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार शरीर के कफ पित्त का भी नियोजक होना आवश्यक है। यह कार्य शरीरस्थ वात द्रव्य के द्वारा होता है। इसीसे आचार्यों ने कहा है—

"पित्तम्पंगु कफः पंगु पङ्गवोमल धातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥"

सुश्रुत

इस प्रकार सृजन का उपादान कारण कफ और पाक या परिवर्त्तन का उपादान कारण पित्त एवं गति या चेष्टा का उपादान कारण वात धातु है। वात धातु वायु बहुल तथा रजो बहुल होने से सब प्रकार के चेष्टाओं का मूल कारण होता है। इसीसे आचार्यों ने कहा है—

"सर्वाहिचेष्टा वातेन स प्राणः प्राणभृतां स्मृतः।"

चरक

उपर्युक्त वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर का मूलभूत उपादान उक्त वात–पित्त और कफ, कर्म तथा गुण के आश्रय होने के कारण तथा शरीररूपी कार्य के समवायि कारण होने के कारण 'द्रव्य' है। शरीर का यह उपादान कारण है; इसमें प्रमाण यह है कि आचार्यों ने स्पष्टरूप से कहा है—

"वात पित्त श्लेष्माण एव देह सम्भव हेतवः।"

तथा—

"नत्तें देहः कफादस्ति न पित्ताम्नच मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते॥"

सुश्रुत

अथवा—"तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्व सन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिवस्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरित्येके॥" (सु० सू० २१)। इसके विपरीत यदि हम वात, पित्त, कफ को शक्ति मानते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि ये किसकी शक्ति है। शक्ति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। वह तो किसी द्रव्य के अन्दर ही रहा करती है। नैयायिकों ने शक्ति को पदार्थान्तर मानकर सुन्दर विवेचन किया है और अन्त में यह निर्णय किया है कि शक्ति कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हो सकता। वात, पित्त और कफ को शक्ति मानने पर यह विचारना होगा कि शरीर के अन्दर कौन सा द्रव्य है जिसकी शक्ति वात, पित्त और कफ है। इसके अतिरिक्त शक्ति अप्रत्यक्ष तथा अदृश्य होती है। परन्तु वात,

पित्त और कफ तो दृश्य एवं प्रत्यक्ष द्रव्य हैं। शास्त्रों में इनका रूप रंग तथा गुणकर्मों का वर्णन उपलब्ध होता है। शक्ति की परिभाषा शास्त्रों में निम्न प्रकार उपलब्ध होता है। "कारणनिष्ठः कार्योत्पादनयोग्यो धर्म विशेषः शक्तिः" (नैयायिक) तथा "अर्थ-स्मृत्यनुकूलः पदपदार्थ सम्बन्धी वृत्ति विशेषः शक्तिः" (वैयाकरण) और "अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इत्यादि संकेतः शक्तिः।" वेदान्ती लोग तो माया को ही शक्ति मानते हैं। सांख्यकार शक्ति को प्रकृति का नामान्तर मानते हैं। इस प्रकार शक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विचार शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं। मीमांसकों ने शक्ति को आठवां पदार्थ माना है परन्तु उनका शक्ति पदार्थ गुण कर्म रहित है। इन सब उलझनों को देखते हुए वात आदि को शक्ति मानना कथमपि युक्तियुक्त नहीं होता।

२—दोषों का पाञ्चभौतिकत्व

आयुर्वेदशास्त्र स्पष्ट रूप से कहता है कि "भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते" (सुश्रुत) तथा "सर्वं द्रव्यं पाञ्च-भौतिकमस्मिन्नर्थे" (चरक) अर्थात् चिकित्सा शास्त्र में भूतों (पञ्च महाभूतों) से परे चिन्ता नहीं है और आयुर्वेद शास्त्र में सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। अतः उक्त वात, पित्त और कफ जो शरीर के मूलभूत उपादान हैं वह पाञ्च भौतिक ही हैं। पञ्च महाभूत द्रव्य हैं अतः पाञ्चभौतिक वात, पित्त कफ भी द्रव्य हैं। शरीर पाञ्च भौतिक है अतः उसका मूलोपादान भी पाञ्चभौतिक ही होगा। क्योंकि कारणके अनुकूल ही कार्य होता है। सुश्रुत टीकाकार

प्रसिद्ध विद्वान डल्हन ने कहा है—"उपादान कारणानि भूतान्याकाशादीनि।" (सु० शा० २-१३) और वाग्भट ने वात, पित्त कफ की उत्पत्ति–वर्णन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि—"वाय्वाकाशाभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तं अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मेति।' (अ० सं० सू० २०)। सांख्य त्रिगुण सत्व-रज और तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहता है और इसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का परिणाम पञ्च महाभूत है जो उक्त त्रिधातु का मूल कारण है। "कारणगुणात्कार्यगुणमारभते" इस नियम के अनुसार उक्त पञ्च महाभूत भी त्रिगुणात्मक होगा और पञ्च महाभूतोद्भूत त्रिधातु वात, पित्त कफ भी त्रिगुणात्मक ही होगा। परन्तु "उत्कर्षेण व्यपदेशः" इस नियम के अनुसार आचार्यों ने "रजो बहुलो वायुः, सत्वं बहुलं पित्तं" तथा "तमो बहुलः श्लेष्मा" ऐसा कहा है।

३—दोषों का संख्यावत्व

दोषों की संख्या स्पष्ट रूप से शास्त्रों में प्रतिपादित है; जैसे—"वायुः पित्तं कफश्चोक्तः त्रयो दोषाः समासतः" (चरक)। संख्या किसी द्रव्य की ही होती है अतः वात, पित्त, कफ द्रव्य हैं।

४—दोषों का अवयवत्व

वात, पित्त, कफ देह के मूलभूत उपादान हैं। अतः ये शरीर के सूक्ष्म अवयव हैं। इन्दु ने अष्टाङ्ग संग्रह में (सू० २८ के टीका में) कहा है कि—"दोषादीन् वर्जयित्वा नान्यच्छरीर सम्बन्धं

शरीरे दृश्यन्ते ; त एव संयुक्ता देह इति यावत् ।" सुश्रुत ने भी शरीर की अंग-प्रत्यङ्ग-गणना में दोष अर्थात् वात, पित्त और कफ का उल्लेख किया है। डल्हन ने इन्हें 'अंगावयव' कहा है। चरक ने भी दोष धातु मल को अवयवों में गिनाया है। चक्रपाणिदत्त ने इन्हें 'शरीरावयव' संज्ञा दी है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्टरूप से कहा है कि दोष, धातु, मल ये अङ्ग-अङ्गी के समान समवाय सम्बन्ध से शरीर में हैं—"शारीरश्च दोषधातु मल समुदायः"। इन वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त त्रिधातु कण के अन्दर ही सप्त धातुओं का उपादान रहता है जो समस्त शरीर में 'केदार-कुल्या' न्याय से प्रवाहित होता रहता है और जिसे 'खले कपोत न्याय' से सप्तधातु ग्रहण कर अपनी पुष्टी करते हैं। ये सप्तधातु ही शरीर के उत्तरोत्तर स्थूल अवयवों के उपादान कारण होते हैं।

५—*दोषों का द्विधावस्थावत्व*

ये दोष या त्रिधातु सूक्ष्म और स्थूल भेद से दो प्रकार के होते हैं।

(क) सूक्ष्मावस्था—इस अवस्था के विवेचन के लिये इन धातुओं की सूक्ष्म रचना पर दृष्टिपात करना होगा। आयुर्वेद के अनुसार ये सूक्ष्म धातु पञ्चमहाभूतों के परमाणुओं से बने हुए हैं। इन पञ्चमहाभूतों के परमाणुओं के विभिन्न संख्या और विन्यास से वात, पित्त और कफ की उत्पत्ति होती है। जिसमें सूक्ष्मशरीर-वायु की उत्पत्ति में वायु के परमाणुओं की तथा

आकाश महाभूत की अधिकता रहती है और इसके विन्यास में वायु की स्थिति ऐसी होती है कि उसका गुण-कर्म उसके अन्दर प्रमुख होता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शारीर-पित्त की उत्पत्ति में अग्निमहाभूत के परमाणुओं की संख्या अधिक और उनका विन्यास इस प्रकार होता है कि अग्नि के गुणकर्म पित्त में प्रबल होते हैं। सूक्ष्म शारीर-कफ की उत्पत्ति में पृथ्वी और जल के परमाणुओं का आधिक्य होने से तथा उनके विन्यास से पृथ्वी और जल के गुणकर्म कफ में प्रधान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। ये सूक्ष्म वात-पित्त और कफ शरीर के प्रथम या आद्य अणु (Call) के निर्मायक होते हैं। भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश आदि शिष्यों को उपदेश करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि—"शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येयाभवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च ॥" (चरक० शा० ७)। चक्रपाणि ने भी च० सू० २०—३ की टीका में शरीराणुओं का संकेत किया है जैसे—"दूष्यास्तु शरीरावयवा अणुशः परस्परमेलकेन विभज्यमाना असंख्येयाः।"

प्रत्यक्ष शारीर और शरीर-क्रिया की दृष्टि से शरीर के अवयवों का जिस प्रकार विभाग किया गया है वे विभाग अन्ततो गत्वा असंख्य अवयवों में विभक्त हो गये हैं और इन अवयवों को 'शरीर परमाणु' या देहाणु इत्यादि कहा गया है। ये शरीर परमाणु इतने सूक्ष्म है कि इन्हें असहाय आंखों से हम नहीं देख सकते, अतः इन्हें अतीन्द्रिय कहा है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने

इन्हें 'सेल' कहा है और इनको अणुवीक्षण यंत्र (Micro cope) से देख कर इनके अन्तःरचना को वर्णन करने की चेष्टा की है।

इन शरीराणुओं (Cells) को अणुबीक्षण यन्त्र से देखने पर पता चलता है कि ये शरीराणु एक पिच्छिल–तरल द्रव्य से भरे रहते हैं जिसे आधुनिक बिद्वान 'प्रोटोप्लाज्म' कहते हैं। इस प्रोटोप्लाज्म में निम्न अवयव दीख पड़ते हैं, जैसे—(१) सायटोप्लाज्म प्रोटोप्लाज्म का अधिकांश यही होता है। इसमें $\frac{3}{4}$ भाग जल तथा शेष भाग में प्रोटीन, खनिज, लवण तथा लाइप्वायड नामक स्नेह जाति का द्रव्य होता है।

(२) न्युक्लियस नाम का घन भाग होता है। इसकी रचना बुद्बुदाकार होती है। यह प्रायः सायटोप्लाज्म के केन्द्र भाग में होता है। अणु (Cell) की पुष्टि तथा विभाग द्वारा वृद्धि इसी के अधीन है। इस न्युक्लियस में 'क्रोमोजोम' नाम के विशेष सूत्र होते हैं। प्रत्येक प्राणि या औद्भिदकों में इनकी संख्या नियत होती है। अणुओं का विभाजन होने पर प्रत्येक क्रोमोजोम के दो खण्ड हो जाते हैं; जो दो पुत्राणुओं में सम संख्या में विभक्त हो जाते हैं। विद्वानों के मत से ये क्रोमोजोम वंश परम्परागत प्रकृति के वाहक हैं।

(३) उक्त सायटोप्लाज्म में केन्द्रक (न्युक्लियस) के अतिरिक्त 'सेन्ट्रियोल' नाम का सूक्ष्म कण होता है। यह समीपवर्त्ति प्रोटोप्लाज्म को आकृष्ट किये रहता है। अतः इसके सम्पूर्ण रचना को आकर्षक क्षेत्र (Atractions sphore) कहते हैं। चरक के

निम्न वाक्यों में सम्भवतः बीज, बीजभाग, तथा बीज भागावयव शब्द से क्रमशः पुंबीज, स्त्रीबीज, न्युक्लियस, यथा क्रोमोजम का ही निर्देश प्रतीत होता है।

"यस्य-यस्य ह्यवयवस्य **बीजे बीजभागे** वा दोषाः प्रकोप मापद्यन्ते तं-तमवयवं विकृतिराविशति। यदाह्यस्याःशोणिते गर्भाशय बीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा बन्ध्यां जनयति। यदा पुनरस्याः शोणिते गर्भाशय **बीज भागावयवः** प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजां जनयति। यदात्वस्याः शोणिते गर्भाशय बीज भागावयवः स्त्रीकराणांच शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं वार्ता नाम जनयति, तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते।"

चरक शा० ४

इन अणुओं का परस्पर संधान उनके अन्तराल में स्थित 'अणुश्लेष्मा' से होता है। साथ ही इन अणुओं के अन्दर जीवन के पांच लक्षणों का निर्देश किया गया है, जैसे—(१) क्षोभ्यता या उत्तेजन शीलता (Irratibility) अर्थात् किसी बाह्य क्षोभक या उत्तेजक (Stimeli) का सम्पर्क होने पर इनमें उचित प्रतिक्रिया होती है। (२) आत्मसात की शक्ति (Assimi lations) (३) पुष्टि या वृद्धि। (४) उत्पादन की योग्यता और (५) मलोत्सर्ग।

उपर्युक्त अणुओं (Ceus) के अन्दर तीन प्रकार की क्रियाओं के करनेवाले द्रव्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। जो अंश तरल, लसदार, वर्धन तथा संधान का कार्य सम्पादन करता है वह

श्लेष्मा या कफ का ही रूप है और परिवर्तन पाक एवं रंजन आदि कार्य करनेवाला अंश पित्त का तथा जीवन के लक्षणों को दर्शाने वाला अंश वायु का ही रूप है। संसार के सभी प्राणिज तथा औद्भिद पदार्थों में जल से वर्धन तथा संधान, ताप से पाक एवं परिवर्त्तन तथा वायु से जीवन का संचार देखा जाता है। मानव-शरीर के अन्दर उक्त जल कफ के रूप में, पित्त-अग्नि तथा ताप के रूप में और वायु वात के रूप में उक्त कार्यों का सम्पादन करता है। त्रिदोष या त्रिधातु के सूक्ष्म रूप की यह आधुनिक व्याख्या है।

आयुर्वेद के संहिताओं में शरीरस्थ-धातुओं (रस-रक्त मांस मेद अस्थि-मज्जा-शुक्र) का पोषण दो प्रकार से समझाया गया है। प्रथम अन्नरस (त्रिधातु-प्रवाह) 'केदार कुल्या न्याय' से शरीरस्थ सब धातुओं के पास पहुंचता है और अन्नरस गत सप्तधातु उपादान को 'खलेकपोत न्याय' से शरीर के उक्त धातु अपने २ पोषण को ग्रहण करते हैं। अतः उक्त त्रिधात्वीय अन्नरस द्वारा शरीरस्थ सप्तधातुओं के पोषण को समझने के लिये उक्त 'केदार कुल्यान्याय' तथा 'खलेकपोत' न्याय को समझना आवश्यक है।

केदार कुल्यान्याय

किसी रहस्योद्घाटन के लिये लौकिक उदाहरणों को देकर समझाने की पद्धति अति प्राचीन है। लोक में यह सभी प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं कि विविध प्रकार के पौधें तथा धान्य का अभिषिञ्चन नदी, नद, पल्वल, कूप आदि के जल से हुआ करता है। इस जल को उक्त पौधें तथा धान्यों तक नालियों (कुल्या)

द्वारा उनके क्षेत्र (केदार) में पहुंचाया जाता है। यह जल नालियों द्वारा खेत तक अबाध रूप से पहुंचता रहता है और जलगत पोषण तत्त्वों से खेत, पौधे तथा धान्य का पोषण होता है। शरीर के अन्दर भी शरीर के विविध धातुओं को पुष्ट करने के लिये पोषण शरीरगत विभिन्न नालियों द्वारा पहुंचता है और उसके द्वारा उनका पोषण होता है।

खले कपोतन्याय

इसका सरल अर्थ है खल अर्थात् खलिहान में कपोत—पक्षियों का एकत्र होकर अन्न को चुगने का न्याय। अर्थात् जिस प्रकार नाना प्रकार के पक्षी खलिहान में एकत्र होकर खलिहान के विभिन्न अन्नों से अपने-अपने योग्य अन्न को चुगते हैं और अपना पोषण करते हैं, उसी प्रकार शरीर में केदार कुल्यान्याय से प्रवाहित तथा प्रसारित अन्नरस गत विभिन्न पोषणांशों से शरीरस्थ धातुएँ तथा शरीराणु अपने-अपने योग्य पोषणों का ग्रहण कर अपना पोषण करते हैं। यहां पोषणांशों का ग्रहण उक्त कपोत (पक्षी) के समान खलिहान में एकत्र विभिन्न अन्नों के ग्रहण के समान होता है अतः इस लौकिक सत्य के द्वारा धातुओं तथा शरीराणुओं के पोषण को समझाया गया है।

उक्त दोनों प्रकार के दृष्टान्तों से यह स्पष्ट किया गया है कि अन्नरस के अन्दर शरीर के सभी धातुओं को पुष्ट करने का उपादान रहता है जिससे उनकी पुष्टि होती है। भुक्तान्न जब शरीर के अन्दर (महास्रोत में) प्राण वायु की सहायता से प्रविष्ट होता है

तो उस अन्न पर अनेक प्रकार की यांत्रिक तथा रासायनिक क्रियायें होती हैं। वह अन्न दाँतों द्वारा पीसा जाता है। मुखकुहर में आगत श्लैष्मिक स्राव द्वारा वह क्लिन्न होता है और स्रावगत पाचक पित्त द्वारा भुक्तान्न के मधुरांश (स्टार्च) का पाक एवं परिवर्त्तन होता है। भुक्तान्न उक्त प्रतिक्रियाओं के बाद अपने पूर्व रूप को त्याग कर दूसरा रूप धारण कर लेता है अर्थात् उसका रूपान्तर हो जाता है। इस प्रकार यह रूपान्तरित भुक्तान्न क्रमशः आमाशय तथा ग्रहणी भाग में पहुंचता है और वहां तत्रस्थ ग्रन्थियों के स्रावगत पाचक पित्त से उसके शेषांश का परिपाक होता है और वह भुक्तान्न द्रव्यान्तर में परिणत हो जाता है। इसके अनन्तर छोटी आँतों में जब वह द्रव्यान्तरित भुक्तान्न पहुंचता है तो अन्न-गत उन अंशों का जिनका परिपाक शेष रहा होता है पुनः परिपाक होता है और जब वे परिपक्व हो जाते हैं और उनके द्रव्यान्तरित कण स्थानीय कटु वातल स्रावों के द्वारा इस योग्य हो जाते हैं कि वहां के सिराओं, रासायनियों तथा पयस्विनियों द्वारा परिशोषित हो सकें तो वे द्विधा विभक्त होकर (सौम्य–आग्नेय) द्विविध मार्ग से परिशोषित हो जाते हैं और रस प्रवाह में मिल जाते हैं।

इस प्रकार त्रिधा-अवस्था पाक के अनन्तर भुक्तान्न रस के रूप में परिशोषित हो रस प्रवाह में आता है। यह अन्नरस उक्त वात-पित्त-कफ प्रधान स्रावों से परिपक्व होने से त्रिधात्वीय रस का रूपधारण कर लेता है। इस त्रिधात्वीय रस का प्रवाह पोषणार्थ समस्त शरीर में अबाध रूप से होता रहता है। इस

प्रकार उक्त अवस्थापाक में अर्थात् रस–दोष सन्निपात में (सम्मिलन में) जो (आहार गत) रस जिस (शारीर) दोष के समान गुण वाला होता है वह अपने समान गुण का वर्द्धक होता है। और इसी प्रकार आहार रस से परिपुष्ट त्रिधातु अपने समान गुणवाले धातु (सप्तधातु) रसादिको परिपुष्ट करते हैं। इसको दोष–धातु सन्निपात कहते हैं। इस प्रकार पाञ्चभौतिक त्रिदोष का पोषक सर्व प्रथम पाञ्चभौतिक अन्न होता है और परिपुष्ट पाञ्चभौतिक त्रिदोष या त्रिधातु पांच भौतिक रसादि-धातुओं को परिपुष्ट करता है। इस पोषण प्रवाह में भुक्तान्न रस में त्रिधातुओं का सूक्ष्म पोषक कण होता है और त्रिधात्वीय रस में सप्तधातुओं का पोषक कण होता है। जिससे उत्तरोत्तर धातुओं का क्रमशः पोषण होता है। इस पोषण व्यवस्था में वात-पित्त-कफ के सूक्ष्मकण स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाते हैं; जिनसे शरीराणुओं (Cells) का पोषण होता है। इस प्रकार दोषों की उक्त दो अवस्थाएँ भी उनके द्रव्यत्व को सिद्ध करती हैं।

६—अवकाश पूरकत्व

द्रव्य का एक गुण यह भी है कि वह किसी न किसी स्थान को घेरता है। यह गुण वात–पित्त–कफ के अन्दर भी देखे जाते हैं। शास्त्रों में स्पष्ट रूप से इनके स्थानों का वर्णन है। चरक संहिता में आहार द्रव्य के लिये स्थानों को छोड़ने का जहां वर्णन किया गया है वहां स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आहार द्रव्य के अतिरिक्त वात–पित्त और कफ के लिये भी कुक्षि में स्थान छोड़ना

चाहिये—जैसे—"त्रिविधंकुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याहार-मुपयुंजानः, तद्यथैकमवकाशांशं मूर्त्तानामाहारविकाराणामेकं द्रवाणा-मेकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणामेतावतींह्याहारमात्रामुपयुञ्जानोनामात्रा-हार जं किञ्चिदशुभं प्राप्नोति ॥" च० वि० ३

इसके अतिरिक्त इन दोषों का प्रमाण भी शास्त्रों में वर्णित है—जैसे—"षट् श्लेष्मणः, पञ्च पित्तस्य" अर्थात् मानव शरीर में ६ अञ्जली कफ और ५ अञ्जली पित्त रहता है। वायु का कोइ निश्चित प्रमाण शास्त्रों में वर्णित नहीं मिलता। ऐसा वर्णन मिलता है कि रिक्त स्थानों में वायु भरा रहता है। जैसे—"देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो वली" (चरक चि० २८) उक्त उद्धरणों से वात-पित्त-कफ का अवकाश पूरकत्व स्पष्ट हो जाता है जो इसके द्रव्य होने का प्रमाण है।

७—भार परिमाणवत्व या गुरुत्व

इन दोषों का भार भी होता है जो द्रव्य होने का साक्षी है। इनके गुण वर्णन में स्पष्ट रूप से इन्हें गुरु या लघु का विशेषण दिया गया है। गुरु और लघु दोनों भौतिक गुण हैं और भौतिक द्रव्य के भार परिमाण का द्योतक है। गुरु और लघु होना इनके सावयव होने का भी प्रमाण है। सावयव होना द्रव्य का ही लक्षण है। काश्यप ने वातादि के परमाणुओं को शरीर-धातुओं का (Cells & tissues) निर्मायक कहा है। यथा—"वायु परमाणवः संयोगविभाग चेष्टाधिकतराः।" किसी धातु का घनत्व उनके उक्त अवयवों के घनता पर ही निर्भर करता है और

उस धातु का गुरुत्व तथा लघुत्व भी उक्त कारणों से ही होता है। वायु धातु के अन्दर संयोजक परमाणुओं की घनता न्यून होती है जिससे वह अन्य धातुओं की अपेक्षा लघु होता है। चक्रपाणि ने वायु के गुण 'असंघातम्' की टीका में 'पित्तश्लेष्मवदवयव संघातरहितम्'; 'अनवस्थितं' की व्याख्या में 'चल स्वभावत्वम्; तथा 'अनासाद्य' की व्याख्या में 'चलत्वेनानिविडावयत्वेन चेति' कह कर इसे और भी स्पष्ट कर दिया है (च० सू० १२)। वायु धातु का वायवीय स्वभाव (उड़नशील) होने के कारण, इसके अणु अवयव असंघातावस्था में रहते हैं और बिना परस्पर वाधा के उड़ सकते हैं। वायु अपने उक्त अनिविडावयत्व के कारण ही चल-स्वभाव का होता है। यहां पर यह स्मरण रखना चाहिये कि गुरु और लघु पद सापेक्ष्य हुआ करता है। संसार में कोई ऐसा द्रव्य नहीं जो केवल गुरु या लघु हो। इसीसे कफ को, अर्धठोस होने के कारण गुरु तथा पित्त को द्रव होने के कारण कफ की अपेक्षा लघु और वायु की अपेक्षा गुरु समझा जाता है।

८—मूर्त्तत्व

द्रव्य मूर्त्त अर्थात् स्वरूप वाला होता है। अतः वात-पित्त-कफ भी स्वरूप-वाला होने के कारण द्रव्य ही है। यह पहले कहा जा चुका है कि शरीर पाञ्चभौतिक हैं और उसका मूलभूत उपादान वात-पित्त-कफ भी पाञ्चभौतिक है। पञ्च महाभूतों के अन्दर पृथिवी भी एक भूत है जिससे पदार्थों में मूर्त्ति आती है। चरक

संहिता शरीर स्थान के पांचवे अध्याय में पुरुष का वर्णन करते समय स्पष्ट रूप से निर्देश किया गया है कि "तस्य पुरुषस्य पृथ्वी मूर्त्तिः" अर्थात् उस चिकित्स्य पुरुष के स्वरूप का कारण तद्गत पृथिवी है। सुश्रुत ने भी "पर्थिवास्तु सर्व मूर्त्त समूहो गुरुता च" (सू० १) इस सूत्र से इसका समर्थन किया है। इस प्रकार शरीर के अन्दर जो भाग पार्थिव अर्थात् पृथिवी महाभूत विशिष्ट हैं उनका रूप अन्य भागों से विशेष स्पष्ट या मूर्त्तिमान होता है जैसे—शरीर के ठोस भाग—अस्थि, नख, मांसपेशी, इत्यादि। इसी प्रकार शरीर के जो तरल या द्रव भाग होते हैं जैसे—रस-रक्त-कफ, पित्त इत्यादि। वे पार्थिव की अपेक्षा कम मूर्त्तिमान होते हैं। उक्त दोनों पदार्थों की अपेक्षा वायु का स्वरूप अनिश्चित तथा वायव्य होने से उसे सर्वत्र अव्यक्त विशेषण दिया गया है। तात्पर्य यह कि इसका स्वभाव वायवीय होने से इसमें अवयव का कोई निश्चित स्थान नहीं होता।

९—इन्द्रिय ग्राह्यत्व

द्रव्य की परीक्षा एक यह भी है कि वह इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है। ये वातादि दोष या धातु इन्द्रयों द्वारा ग्राह्य हैं, यह प्रत्यक्ष हैं। यद्यपि इनकी सूक्ष्मावस्था अतीन्द्रिय अर्थात् असहाय नेत्रों से अदृश्य होती है तथापि ये अपनी स्थूलावस्था में इन्द्रिय प्रत्यक्ष (ग्राह्य) होते ही हैं। सूक्ष्मावस्था की स्थिति भी इनके कार्यों से सदा अभिव्यञ्जित होती रहती है। इसीलिये चक्रपाणि ने कहा है कि—स्वरूपं हि वातादीनां कार्यगम्यमेव" च० सू० २८

तीसरा अध्याय

वात-पित्त-कफ का स्थान निर्देश

"वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि।" (च० वि० ५—५०) "वातपित्तकफादेहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः।" (च० चि० २८) "सर्वशरीरचरास्तु वातपित्त-श्लेष्माणो हि सर्वस्मिन्शरीरेकुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति।" च० सू० २०

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणों में वात-पित्त-कफ का सर्वशरीर-व्यापित्व प्रतिपादित किया गया है और शरीर के सभी स्रोतों को वायु पित्त-कफ का अयन (मार्ग) निर्देश किया गया है, तथापि इनका विशिष्ट स्थान क्रमशः शरीर के अधो (नीचे) मध्य (बीच में) और ऊर्ध्व (ऊपर) भाग है, ऐसा वर्णन मिलता है। जैसे—"ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।" (अ० हृ० सू० १) अर्थात् वे (वात-पित्त-कफ) व्यापी (सर्वशरीर में व्याप्त) होने पर भी हृदय और नाभि के नीचे, बीच में और ऊपर क्रमशः रहते हैं। अर्थात् वात हृदय और नाभि के नीचे, पित्त मध्य में और कफ ऊपर रहता है। चरक के अनुसार वायु का स्थान पुनः निम्न प्रकार वर्णित मिलता है जैसे—"वस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि च वात स्थानानि, अत्रापि

पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम् ।" (च० सू० २०) अर्थात् वस्ति, मूत्राशय (Urinary bladar), पुरीषाधान—छोटी-बड़ी आँतें (Intestines), कटि-प्रदेश (Pelvis), दोनों सक्थियाँ (thighs), दोनों पैर और हड्डियाँ वायु के स्थान हैं। इसमें भी पक्वाशय (Large intestines rectum) उसका विशिष्ट स्थान है।

वाचकों को स्मरण होगा कि वायु के प्रकारों का वर्णन करते समय उनके स्थानों का जो संक्षेप में निर्देश किया गया है वह उक्त वर्णन से कुछ भिन्न है। यद्यपि इन स्थानों का भी समावेश उनके अन्दर है तथापि वह वर्णन बिलकुल ऐसा नहीं है। यहाँ जो स्थान निर्देश किया गया है वह निम्न दृष्टि से है—देखा जाता है कि इन स्थानों में वायु अधिक बनती रहती है और वायु का विकार भी इन स्थानों में अधिक होता है। चूँकि वायु के बनने का यह स्थान है अतः इस स्थानीय वायु वृद्धि से अन्य स्थानीय वायु की भी वृद्धि हो जाती है। इस स्थानीय वायु के ह्रास से अन्य स्थानीय वायु का भी ह्रास होता है। प्रत्यक्ष रूप से यह देखा गया है कि वस्ति आदि स्थानीय प्रतिकारों से वायु की शान्ति होती है। स्थानीय वायु की शान्ति से अन्य स्थान की भी वायु की शान्ति होती है, इसका समर्थन चक्रपाणि ने निम्न पदों से किया है। "यद्यपि प्राणादिभेदभिन्नस्य वायोः पृथगेव स्थानानि वक्ष्यन्ति, तथापीदं वैशेषिकं स्थानं ज्ञेयं, यतोऽत्र प्रायोवातविकाराः भवन्ति भूताश्च दुर्जयाः, अत्र च विजिते वाते सर्ववातविकारावजय इति"

(चक्रपाणि) "तद्धि—(वस्ति कर्म) आदित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति ।" (च० सू० २०)

वाग्भट तथा सुश्रुत के अनुसार—वायु का स्थान निम्न प्रकार निर्दिष्ट है :—

"पक्वाशय कटि-सक्थि श्रोत्रास्थि स्पर्शनेन्द्रियम् ।
स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः ॥

वा० सू० १२

"तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः ।" सु० सू० २१

अर्थात्—पक्वाशय, कटि, सक्थि, श्रोत्र, अस्थि और त्वचा वात का स्थान कहा गया है और उनमें भी पक्वाशय को वायु का विशेष स्थान कहा गया है। सुश्रुत ने इसे और संक्षेप कर कहा है कि श्रोणि तथा गुदप्रदेश के मध्य वायु का स्थान बतलाया है। इस प्रकार उक्त सम्पूर्ण वर्णन के अनुसार शरीर का अधः-प्रदेश अर्थात् नाभि के नीचे का भाग वायु का स्थान सर्वसम्मत है। इस स्थान के अवयवों का उल्लेख कर इसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त शरीर के सम्पूर्ण अस्थियों तथा श्रोत्र एवं त्वचा को भी वायु का स्थान वाग्भट ने कहा है। अतः इन स्थानों की रचना तथा उनके क्रिया-कलाप पर एक बार दृष्टिपात किये बिना इस तथ्य को समझना सहज नहीं है।

वस्ति, पुरीषाधान या पक्वाशय की रचना मांसपेशियों तथा कलाओं से इस प्रकार हुई हैं कि उनके अन्दर यथेष्ट अवकाश बना रहता है। ये स्थान (अवकाश) मूत्र तथा मल के एकत्र

होने के लिए होता है, जब मूत्र तथा मल इनमें एकत्र होता है, तो इनके दबाव से तत्रस्थ नाड़ियों की प्रेरणा से इन अवयवों में संकोच-प्रसार होने लगता है और फलस्वरूप उक्त मल-मूत्र बाहर निकल जाते हैं। अवकाश-स्थान में वायु का निवास तथा संकोच प्रसार वायु का कार्य है यह पहले कहा जा चुका है।

अतः उक्त वस्ति तथा पक्वाशय में, जो थैली तथा लम्बी नली के समान अवकाश होता है वह वायु का स्थान है, यह उक्तियुक्त है। इन अवयवों के कार्यों से भी इसकी पुष्टि होती है। वस्ति का कार्य वृक्क द्वारा निःस्यूत एवं गविनियों द्वारा आगत मूत्र का धारण एवं निष्कासन है। यह क्रिया वायु के बिना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकती। अतः वहां वायु का "निवास युक्तियुक्त है। ये अवयव कटि-प्रदेश में स्थित हैं अतः कटि को भी वायु का स्थान कहा गया है।

अस्थि के निर्माण में वायु धातु का आधिक्य होता है। देखा जाता है कि वृद्धावस्था में जब सब धातुएँ क्षय होती हैं उस समय भी वायु की वृद्धि के कारण अस्थियों की वृद्धि होती है। अतः अस्थि को भी वायु का स्थान कहा गया है। श्रोत्र तथा त्वचा के द्वारा क्रमशः शब्द तथा स्पर्श का ज्ञान होता है। वात धातु की उत्पत्ति वायु तथा आकाश महाभूतों की विशेषता से होती है। उक्त शब्द तथा स्पर्श गुण आकाश तथा वायु के नैसर्गिक गुण हैं। आयुर्वेद शास्त्र में इन्द्रियों को भौतिक माना गया है और उक्त श्रोत्र तथा त्वचा की रचना में आकाश तथा वायुतत्त्व का

आधिक्य निर्देश किया गया है। शब्द तथा स्पर्श के ग्रहण में नाड़ियों का प्रधान कार्य होता है। ये नाड़ियाँ वात-धातु प्रधान होती हैं अतः इन्हें भी वात का स्थान कहा गया है। इसके अतिरिक्त वायु का कार्यक्षेत्र मस्तिष्क है ऐसा वर्णन वेदों में भी मिलता है।

"मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रैरयत् पवमानोऽधिशीर्षतः॥"

अथर्व० १०-२-२६

अर्थात् अथर्वा (ईश्वर) ने पुरुष के शिर तथा हृदय को परस्पर सीआ हुआ है। इसी सम्बन्ध के कारण वायु शिर में स्थित मस्तिष्क में ऊपर रहता हुआ (प्रत्येक अवयव को अपने अपने कर्म करने की) प्रेरणा करता है।

प्राण-वायु का स्थान—

"वायुर्योवक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक्।" सु० नि० १

"स्थानं प्राणस्य मूर्धोरः (कर्ण) कण्ठजिह्वास्यनासिकाः।"

च० चि० २८

"तत्र प्राणो मूर्ध्न्यवस्थितः कण्ठोरश्चरः।" अ० सं० सू० २०

"हृदि प्राणो।" शा० पू० अ० ६

उपर्युक्त सूत्रों में प्राण-वायु का स्थान मुख, मूर्द्धा, उरः प्रदेश, कर्ण, कण्ठ, जिह्वा, नासिका, तथा हृदय निर्दिष्ट किया गया है। शरीर का रक्त संवहन तथा श्वासोच्छ्वास क्रिया एवं नाड़ी संस्थान की नियमन क्रिया में उक्त अवयव ही द्वारभूत होते हैं।

प्रत्यक्ष शारीर से यह स्पष्ट हो जाता है कि रक्त संवहन का सारा दारोमदार हृदय की गति पर ही निर्भर है, शरीर में हृदय रक्त का सब से बड़ा कोष है। इस रक्त को जीवित रखना तथा शरीर पोषणोपयोगी बनाए रखना 'प्राणद्रव्य' (Oxygen) की रक्त में स्थिति पर ही निर्भर है। हृद्गत रक्त में प्राण द्रव्य की विशेषता होती है अतः प्राण वायु का स्थान हृदय कहा गया है। श्वास-प्रश्वास क्रिया द्वारा ही मनुष्य नासा और मुख की सहायता से प्राणद्रव्य (Oxygen) विशिष्ट वायु का ग्रहण करता है जो उरः प्रदेश (फुफ्फुसों) में जाकर वहां आगत समस्त रक्त को प्राणद्रव्य देकर उसे शुद्ध करता है। दूषित रक्त का विष (कार्बनिकाम्ल) निःश्वास (Experation) द्वारा बाहर निकलता है और उच्छ्वास (Inspiration) द्वारा (प्राणद्रव्य से पूर्ण) वायु भीतर जाता है जो रक्त में मिलकर उसे जीवन (प्राण) प्रदान करता है। इसीसे इस वायु को देह धृक् कहा है। रक्त संचार से तथा श्वास-प्रश्वास क्रिया से हम देह को धृत या जीवित समझते हैं। इस का सुन्दर वर्णन शार्ङ्गधर ने निम्न श्लोक में किया है :—

"नाभिस्थः प्राण पवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् ।
कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥
पीत्वाचाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ।
प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम् ॥" शा० पू० ५

अर्थात्—नाभि (हृदय) में स्थित (धातु-पाकजन्य) प्राणसंज्ञक दूषित वायु प्रथम हृदय (फुफ्फुस) में आता है। और फिर आकाश में अमृत (Oxygen) पान करने के लिए कण्ठ से बाहर निकलता है और आकाश के अमृत का पान कर के वह वेग से अन्दर प्रविष्ट होता है। यह रुधिर (जीव) जठराग्नि और समस्त शरीर का पोषण करता है।

इसके अतिरिक्त प्राण-वायु का स्थान मूर्द्धा या मूर्ध्नि भी कहा गया है। यहाँ मूर्द्धा या मूर्ध्नि मस्तिष्क के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ प्रतीत होता है। वेदों में वायु का कार्य क्षेत्र मस्तिष्क है, ऐसा वर्णन मिलता है; यह कहा जा चुका है। वहां भी अर्थात् उक्त मन्त्र में भी मूर्द्धा शब्द ही मस्तिष्क के लिये आया है। कोषों में भी मूर्द्धा शब्द मस्तिष्क के अर्थ में ही प्रतिपादित है। जैसे—"उत्तमांगं शिरः शीर्षं मूर्द्धानं मस्तकोऽस्त्रियाम्।"

—अमर

अतः मूर्द्धा से मस्तिष्क अर्थ लेना युक्तियुक्त है। शरीर के सभी क्रियाओं का नियन्त्रण मस्तिष्क प्रदेशस्थित अवयवों से ही होता है। मस्तिष्क में सभी इन्द्रियों तथा अवयवों का केन्द्र रहता है, जिनके द्वारा शरीर के सभी व्यापार नियन्त्रित होते हैं। इसका उल्लेख आयुर्वेद में भी मिलता है। जैसे—

"प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥"

च० सू० १७

"सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणाः येन च संसृताः।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥"

अ० सं० २९

चरक वातकलाकलीय अध्याय में वायु को इन्द्रियों तथा अवयवों का प्रेरक एवं उद्योजक कहा गया है जैसे—"प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः।" इत्यादि। अतः प्राणवायु का मस्तिष्क में भी स्थान निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। कण्ठ, कर्ण, जिह्वा तथा नासिका में भी प्राणवायु का स्थान उक्त सूत्र में निर्दिष्ट है। ये अवयव प्राणवायु के ग्रहण में द्वारभूत हो सहायक होते हैं अतः इन्हें प्राणवायु का स्थान कहना अयुक्तियुक्त नहीं है।

उदान वायु का स्थान

उदानो नाम यस्तूर्द्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ॥"

सु० नि० १

"उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कंठ एव च ॥"

च० चि० २८

"उदान उरस्थवस्थितः कण्ठ नासिका नाभिचरः।"

अ० सं० सू० २०

"उदानः कंठदेशस्थः।" शार्ङ्गधर अ० ५

उक्त सूत्र में उदान वायु का स्थान जत्रु से ऊपर के भाग कण्ठ, नासा तथा नाभि और उरः प्रदेश कहे गये हैं। स्वर, शब्द

तथा वाणी की उत्पत्ति में शरीर के उक्त अवयव भाग लेते हैं। कण्ठ प्रदेशस्थित स्वरयंत्र तथा स्वरतन्त्री के वाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्न से ही स्वर तथा शब्द की उत्पत्ति होती है और नासिका आदि वाह्य अवयवों के प्रयत्न से वर्ण या वाणी की उत्पत्ति होती है, यह उदान वायु का प्रधान कार्य है।

स्वर तथा शब्द की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए पाणिनि ने कहा है :—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति ततः प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।"

पा० शिक्षा

अर्थात् जब आत्मा को किसी विषय का कथन करने की इच्छा होती है तब वह बुद्धि के साथ मिलकर मन को प्रेरित करता है। तब आत्मा के प्रयत्न से प्रेरित हुआ मन कायाग्नि को आहत करता है। इस आघात से प्रेरित होकर वायु उरःप्रदेश में संचार करता हुआ मन्द्र स्वर को उत्पन्न करता है। अर्थात् उदान वायु का कण्ठगत स्वरयन्त्र तथा स्वरतन्त्र के साथ अभिघाताख्य संयोग होने से स्वर की उत्पत्ति होती है। यहाँ अभिघाताख्यसंयोग निमित्त कारण कण्ठगत स्वरयंत्र तथा स्वरतंत्र के साथ आकाश का संयोग असमवायि कारण और आकाश स्वर तथा शब्द की उत्पत्ति में समवायिकारण होता है। आगे चलकर पाणिनि ने

वर्ण की उत्पत्ति की व्याख्या करते समय तथा उनकी उत्पत्ति के स्थानों का वर्णन करते हुए कहा है कि—

"सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।"

वर्णान् जनयते··· ··· पा० शिक्षा

तथा—

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कंठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।"

पा० शिक्षा

अर्थात् वह उदीर्ण वायु मुख कुहर में आकर (मुख के विभिन्न अवयवों के प्रयत्न से) वर्णों की उत्पत्ति करता है। वर्णों की उत्पत्ति के लिए आठ स्थान हैं जैसे—उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु। इसका वर्णन प्रशस्तपाद ने "आत्मा मनसः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा" इस सूत्र द्वारा किया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम अनुभव किये हुए वर्ण की स्मृति द्वारा आत्मा तथा मन के परस्पर संयोग से वर्णोच्चारण की इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा से आत्मा में प्रयत्न और प्रयत्न से आत्मा और वायु का संयोग होने से तत्स्थानीय उदान वायु में कर्म उत्पन्न होता है। तदनन्तर वायु में कर्म उत्पन्न हो जाने से वह वायु ऊपर की ओर आता हुआ कण्ठ, तालु आदि स्थानों से टकराता है और इन स्थानों का स्थानीय आकाश के साथ संयोग होने से वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है।

समान वायु का स्थान

"स्वेदो दोषाम्बु वाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्नि बलप्रदः ॥"

च० चि० २८

"आम पक्वाशयचरः समानोवह्निसंगतः।" सु० नि० १

"समानोऽन्तराग्नि समीपस्थस्तत्सन्धुक्षणः पक्वामाशयदोषमल शुक्रार्त्तवाम्बुवहःस्रोतोविचारीतदवलम्बनान्नधारण पाचन विवेचन-किट्टाधोनयनादि क्रियः।" अ० सं० सू० २०

"समानो नाभि संस्थितः" शार्ङ्गधर

उक्त सूत्रों में समान वायु का स्थान स्वेदवाही, अम्बुवाही, दोष-वाही, आन्तराग्नि का पार्श्वदेश, आमाशय, पक्वाशय तथा नाभि-प्रदेश कहा गया है। उक्त सभी स्थानों में पाक-प्रक्रिया होती है। और पाकजन्य पदार्थों का विवेक अर्थात् सार तथा किट्ट भाग का पृथक्करण होता रहता है। हमारी कायाग्नि शरीरवृद्धि के लिए तथा शक्ति (Energy) उत्पन्न करने के लिए सदा शरीर के अन्दर आए हुए अन्न तथा अन्नरस का अवस्थानुसार पाक करती रहती है। इस पाक-प्रक्रिया को सुचारु-सम्पन्न करने के लिये अग्नि को प्रदीप्त या संधुक्षित करनेवाला कोई द्रव्य उसके समीप होना आवश्यक है। अतः जो वायु उक्त अग्नि के समीप रहकर उसे संधुक्षित करती है उसे समान वायु कहते हैं। इसीसे समान वायु को आन्तराग्नि समीपस्थ तथा पार्श्वस्थ कहा गया है। इस

प्रकार समान वायु आन्तराग्नि या कायाग्नि (digestive ferment or intercellular enzymes) के समीप रहकर उन्हें संधुक्षित कर (स्राव कराकर) बल प्रदान करता है। समान वायु से संधुक्षित कायाग्नि जब शरीरस्थ अन्न तथा अन्नरस का पाक करती है तो उससे दो प्रकार के पदार्थ तैयार होते हैं। उनमें से एक शरीर का पोषक होने से उपादेय और दूसरा बाधक होने से हेय (त्याज्य) होता है। इन्हें क्रमशः प्रसादभाग तथा मल-भाग कहते हैं। इस प्रकार द्विविध उपादेय तथा हेय भाग का पृथक्करण भी उस समान वायु के द्वारा ही सम्पन्न होता है अतः इसका स्थान स्वेदवाही, मलवाही, अम्बुवाही आदि स्रोत निर्दिष्ट किए गए हैं। आमाशय तथा पक्वाशय अन्न के परिपाक का प्रधान स्थान है। अतः तत्रस्थ पाचकाग्नि को संधुक्षित करने केलिये समान वायु का वहाँ होना आवश्यक है। इसीलिए समान वायु का स्थान आमाशय तथा पक्वाशय कहा गया है जो नाभि प्रदेश के सन्निकट है।

व्यान वायु का स्थान

"देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्र गतिर्नृणाम्।"

च० चि० २८

"कृत्स्नदेहचरो व्यानो रस संवहनोद्यतः॥" सु० नि० १

"व्यानो हृद्यवस्थितः कृत्स्नदेहचरः।" अ० सं० सू० २०

"व्यानः सर्व शरीरगः॥" शार्ङ्गधर

व्यान वायु का स्थान सम्पूर्ण शरीर कहा गया है। अर्थात् वह हृदय में रहता हुआ सम्पूर्ण शरीर में रस-रक्त संवहन करता रहता है। तात्पर्य यह है कि शरीर की समस्त रक्तवाहिनियाँ (सिरा तथा धमनियाँ) व्यान वायु का स्थान है। सम्पूर्ण शरीर में रस रक्त आदि का संवहन करना व्यान वायु का कार्य है। इसके अतिरिक्त शरीर में जहाँ-जहाँ आकुञ्चन, प्रसारण उत्क्षेपण आदि गत्यात्मक कर्म होते हैं, सर्वत्र व्यान वायु रहता है। मांस-पेशियाँ, संधियाँ, स्नायुयें, कण्डरायें, रज्जु इत्यादि सभी व्यान-वायु के स्थान हैं।

अपान वायु का स्थान

"वृषणौ वस्ति मेढ्रं च नाभ्यूरू वंक्षणौगुदम् ।"

"अपान स्थानमन्त्रस्थः ·····॥" च० चि० २८

"पक्वाधानालयोऽपानः ।" सु० नि० १०

"अपानस्त्वपानस्थितो वस्तिश्रोणि मेढ्रवृषण वंक्षणोरुचरः ॥"

अ० सं० सू० २०

"गुदेऽपानः" शार्ङ्गधर

अपान वायु का स्थान वृषण, वस्ति, मेढ्र, नाभि, उरु, वंक्षण, गुद आदि मलाशय कहा गया है। इन स्थानों में शरीर में उत्पन्न हुए मल एकत्रित एवं उत्सर्जित होते हैं। ये स्थान मल का धारण करते हैं और समयानुसार उन्हें बाहर निकालते हैं। यह काय अपानवायु का है। अपानवायु शरीर में उत्पन्न मल को

मलाशयों में धारण करता है और उसे समय पर उनमें संकोच उत्पन्न कर उन्हें बाहर निकालता है। इनके अतिरिक्त शुक्र तथा आर्तव को भी अपने स्थान में धारण करना तथा उन्हें आवश्यकतानुसार बाहर निकालना है।

पित्त का स्थान

"स्वेदोरसोलसीकारुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्।" च० सू० अ० २०

"तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः, पक्वामाशय मध्यं पित्तस्य।"

सु० सू० २१

"नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः॥"

वा० सू० १२

"नाभिरामशयः स्वेदो लसीका रुधिरं चक्षुः स्पर्शनंच पित्त स्थानानि।" अ० सं० सू० २०

उक्त सूत्रों में पित्त का स्थान स्वेद, रस, लसीका, रुधिर, आमाशय, दृक्, त्वचा, तथा नाभि कहा गया है। इनमें भी नाभि को पित्त का विशिष्ट स्थान कहा गया है। चरक ने अमाशय को पित्त का विशिष्ट स्थान निर्देश किया है। सुश्रुत ने पित्त का स्थान आमाशय और पक्वाशय के मध्य में माना है। आमाशय कफ का स्थान भी है अतः इस पर विचार करना आवश्यक है। चरक ने आमाशय को पित्त का स्थान निर्देश

करते समय आमाशय की जो स्थिति बतलायी है उस से अपशंका का निराकरण हो जाता है। जैसे–"नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः।" (च० वि० २) इस प्रकार चरक का आमाशय महास्रोत का वह भाग है जहां से आधुनिक आमाशय (Stomach) प्रारम्भ होता है और क्षुद्रान्त्र का मध्य भाग जहां से ग्रहणी प्रारम्भ होती है वहाँ तक है। अर्थात् महास्रोत के आमाशयिक भाग जो हार्दिक द्वार से (Cardiac orfice of the stomach) प्रारम्भ होकर ग्रहणी भाग (Deodenum) तक पित्त का स्थान चरक ने बतलाया है। प्रत्यक्ष शारीर के अनुसार इस भाग में प्रधानतः दो क्रियाएँ होती है। इसके आद्य भाग में तत्स्थानीय ग्रंथियों के स्रुत रसों से भुक्तान्न का घोल तैयार होता है और उस घोल पर आमाशय प्रदेश में आमाशयिक रस (जाठररस) गत पित्त की क्रिया होती है और इसके आगे ग्रहणी में अग्न्याशय तथा यकृत से आये हुए पाचक पित्त की क्रिया होती है। इस प्रकार आमाशय के आद्य भाग में कफ की क्रिया होने से (घोल बनने की क्रिया) आचार्यों ने आमाशय को (उसके आद्यभाग को) कफ का स्थान कहा है। परन्तु आमाशय से ही पाक की प्रबल क्रिया प्रारम्भ होने से तथा चरक के निर्देशानुसार आमाशय में तीन पाचक रसों की क्रियाओं के होने से आमाशय पित्त का विशिष्ट स्थान माना गया है। यों तो शरीर के सभी भागों में पाक की क्रिया प्रायः होती रहती है परन्तु अन्न के मुख्य घटकों का पाक महास्रोत के हार्दिक द्वार से लेकर

ग्रहणी तक, जो स्तन और नाभि के बीच में पड़ती है, प्रायः सम्पन्न हो जाता है अतः पित्त का विशिष्ट स्थान उक्त आमाशय कहा गया है। नाभि को भी पित्त का विशिष्ट स्थान कहा गया है। यहां नाभि से नाभि प्रदेश अर्थात् आमाशय का निचला भाग, ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र का पहला हिस्सा लिया गया है। यह स्थान भी पाक का विशिष्ट स्थान है अतः इसे भी पित्त का विशिष्ट स्थान कहना अयुक्ति-युक्त नहीं। महास्रोत में भुक्तान्न का त्रिधा अवस्थापाक होने के पश्चात् पाकजन्य अन्नरस का पाक पुनः धातुओं में पहुंचने पर धात्वग्नियों द्वारा होता है। यही कारण है कि आचार्यों ने पित्त का स्थान स्वेद, रस, लसीका, रुधिर आदि धातुओं में भी निर्दिष्ट किया है।

स्वेद से स्वेदग्रंथियाँ तथा स्नेहग्रंथियों का ग्रहण करना चाहिए जो त्वचा के निचली स्तर में स्थित रहती हैं। लसीका रस तथा रुधिर ये तीन धातुएँ भुक्तान्न रस से निर्मित सौम्य तथा अग्नेय रस है जिनका समस्त शरीर में विभिन्न अवयवों के पोषणार्थ तथा तर्पणार्थ संवहन विभिन्न मार्गों से हुआ करता है। ये दोनों (लसीका और रस) रक्त की आद्यावस्था है जो समय पाकर रक्त का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् भुक्तान्न का सौम्य भाग पयश्विनियों द्वारा परिशोषित होकर रसकुल्या से होकर रस बहा मे जाता है और वहाँ से गलमूलिकासिरा द्वारा महासिरा के रक्त में मिलकर हृदय में पहुंचता है। इस प्रकार अग्नेयरस सिराओं द्वारा परिशोषित होकर प्रतिहारिणी

सिराओं-याकृत सिराओं द्वारा अधरा महासिरा के रक्त में मिलता है और हृदय में पहुंचता है।

पाचक पित्त

"तत्रादृष्टहेतुकेनविशेषेण पक्वामाशय मध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि।"

सु० सू० २१

"पित्तं पञ्चात्मकं तत्र पक्वामाशय मध्यगम्।
पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजस गुणोदयात्॥"
"त्यक्त द्रवत्वं पाकादि कर्मणानल संज्ञितम्।
× × × × पाचकं नाम तत्स्मृतम्॥"

वा० सू० १२

तत्र यदामाशय पक्वाशय मध्यस्थं × × × × पाचकमित्युच्यते। अ० सं० सू० २०

"अग्न्याशये भवेत् पित्तमग्नि रूपं तिलोन्मितम्।
× × × × पाचकं × × ×॥"

शार्ङ्गधर

उपर्युक्त सूत्रों में पाचक पित्त का स्थान, आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य कहा गया है। यद्यपि अन्न का परिपचन मुखगत लाला ग्रंथियों से स्रुत लालागत पाचकपित्त से ही प्रारम्भ होता है, जैसा कि पाचक पित्त के स्वरूप वर्णन में दर्शाया गया है; तथापि भुक्तान्न का सम्यक् परिपाक आमाशय से ही प्रारम्भ

होता है और छोटी आंतों तक यह पाक-प्रकिया प्रबल रूप में होती रहती है। आयुर्वेद के संहिताग्रंथों में महास्रोत के उस भाग के, जिसमें अन्न का प्रधानतः परिपाक होता है, तीन भाग किये गये हैं—(१) आमाशय, (२) पच्यमानाशय और (३) पक्वाशय। आमाशय महास्रोत के हार्दिक द्वार से प्रारम्भ होकर मुद्रिका द्वार तक समाप्त हो जाता है। इस भाग से जाठर रस (Gastric juice) निकलता है; जिसके पाचक पित्त में अन्न के आमिषांश (प्रोटीन) को पचाने की विशेष क्षमता रहती है। मुद्रिका द्वार से आगे ग्रहणी का भाग है। यही आयुर्वेद का पच्यमानाशय है। इस भाग में अग्न्याशय से आग्नेय रस (Pancreative juice) और यकृत् से पित्त आता है; जिसमें अन्न के वसांश तथा अवशेष आमिषांश एवं शर्करांश को पचाने की क्षमता होती है। इसके आगे का भाग छोटी आँतों का है, जिसमें आंत्ररस (Succus entoricus) द्वारा अन्न के अवशिष्टांशों का परिपाक होता है। यह भी पच्यमानाशय ही है। इसके आगे जहां से बड़ी आँत प्रारम्भ होती है, वहां से पक्वाशय प्रारम्भ होता है।

रञ्जक पित्त

"यत्तु यकृत् प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा।"

सु० सू० २१

"आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रस रञ्जनात्।

वा० सू० १२

"आमाशयस्थं तु रसस्य रञ्जनात् रञ्जकम् ।।"

अ० सं० सू० २०

"दृश्यं यकृति यत् पित्तं तद्रसं शोणितं नयेत् ।"

शार्ङ्गधर

उक्त सूत्रों में रञ्जक पित्त का तीन स्थान निर्देश किया गया है। यकृत्, प्लीहा और आमाशय। प्रत्यक्ष शारीर के अनुसार तथा शरीर क्रिया विज्ञान के अनुसार भी उक्त यकृत्-प्लीहा और आमाशय इन तीनों स्थानों में रस को रक्त में परिणत करने वाला उपादान निर्मित होता है और उनके द्वारा रस का राग होता है। इनके अतिरिक्त अस्थि के मज्जा भाग (Bone marrow) में भी रस को रक्त बनानेवाला पदार्थ पाया जाता है और वहां रस का रञ्जन होता है। यकृत् और प्लीहा का कार्य वर्णन करते समय महामहोपध्याय गणनाथ सेन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि—"शोणितशोणिमप्रदस्यरञ्जकपित्तस्य च निर्माणं यकृत्प्लीह्नोः संभवति इति पाञ्च।" (प्र० शा० आशयप्रकरण)। अर्वाचीन शारीर शास्त्र में भी इसका समर्थन प्राप्त होता है; जैसे—"In the foctus, the liver and spleen take part in blood formation." (Hand book of Physiology) अर्थात् गर्भस्थ बालक के रक्त-निर्माण में यकृत् और प्लीहा भाग लेता है। इसी प्रकार आमाशय में भी रक्तोत्पत्ति के लिये सहायक अंश का निर्माण होता है इसका समर्थन भी आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान में भी प्राप्त होता है यथा—"Castle has shown

that Brunner's glands and these corresponding in the pylorus produce an intrensic factor which is somewhat like an enzyme. It acts upon an intrensic factor in the food, which according to Castle is vitamin B 2, to form a substance necessary for blood production." (Hand book of Physiology) अर्थात् कैशल नाम का प्रसिद्ध शारीर-क्रिया विद् ने यह दर्शाया है कि ब्रुनर ग्रन्थियों तथा मुद्रिकाद्वारस्थ ग्रन्थियों से एक प्रकार का आन्तरिक तत्त्व निकलता है, जो एनजाइम नामक तत्त्व से साम्य रखता है। कैशल के मतानुसार यह जीवनीय तत्त्व "बी" है जो भोजन के आन्तरिक तत्त्व पर क्रिया करता है और यह तत्त्व रक्त-निर्माण के लिये आवश्यक है। इस प्रकार का वर्णन नहीं उपलब्ध होता; जिसमें अस्थिगत लोहित मज्जा द्वारा (Red marrow) रक्त के निर्माण का संकेत मिलता हो। परन्तु प्रत्यक्ष शारीर से यह स्पष्ट है।

शार्ङ्गधर ने हृदय में रस के रञ्जन का उल्लेख किया है, जैसे—"रसस्तु हृदयं याति समान मारुतेरितः। रञ्जितः पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम्॥" अर्थात् समान वायु से प्रेरित होकर रस हृदय में जाता है और वहां उसका परिपाक तथा रञ्जन पित्त के द्वारा होता है, जिससे वह लाल वर्ण का हो जाता है। यह वर्णन भुक्तान्न रस से द्विविध मार्गों द्वारा परिशोषित होकर महासिराओं द्वारा रक्त में मिलकर हृदय में पहुंचने का प्रतीत होता है।

साधक पित्त

"यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा।"

सु० सू० २१

"साधकं हृद्गतं पित्तं" × × वा० सू० १२

"हृदयस्थं × × साधकम् अ० सं० सू० २०

"यत् पित्तं हृदये तिष्ठेत् × × × साधकं चेति" शार्ङ्गधर

उक्त सूत्रों में साधक पित्त का स्थान हृदय कहा गया है; इसका विवेचनस्वरूप वर्णन में किया जा चुका है।

आलोचक पित्त

"यत् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन् आलोचकोऽग्निरिति संज्ञा।"

सु० सू० २१

"दृक्स्थमालोचकं" × × वा० सू० १२

"दृष्टिस्थं रूपालोचनादालोचकम्" अ० सं० सू० २०

"यत् पित्तं नेत्र युगले × × आलोचकम्" शार्ङ्गधर

आलोचक पित्त का स्थान नेत्र है। इसका विवेचन इसके स्वरूप वर्णन में किया जा चुका है।

भ्राजक पित्त

"यत्तुत्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा।"

सु० सू० २१

"त्वक्स्थं भ्राजकम् × × × वा० सू० १२

"त्वक्स्थं त्वचो भ्राजनात् भ्राजकम्" अ० सं० सू० २०

"त्वचि कान्तिकरं ज्ञेयं × × भ्राजकम्" शार्ङ्गधर

भ्राजक पित्त का स्थान त्वचा है। इसका भी विवेचन इसके स्वरूप-वर्णन में किया जा चुका है।

कफ का स्थान

"उरः शिरो ग्रीवा, पर्वण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि, अत्राप्युरो विशेषेणश्लेष्मस्थानम्।" च० सू० २०

"आमाशयः श्लेष्मणः" × × सु० सू० २१

"उरः कण्ठशिरः क्लोम पर्वण्यामाशयो रसः।
मेदो घ्राणञ्च जिह्वाच कफस्य सुतरामुरः॥"

वा० सू० १२

"उरः कण्ठः शिरः क्लोम पर्वण्यामाशयो रसो मेदो घ्राणं रसनं च श्लेष्मस्थानानि। अत्राप्युरो विशेषेण।" अ० स० सू० २०

उपयुक्त सूत्रों में कफ का स्थान उर, शिर, ग्रीवा, पर्व (जोड़) आमाशय, मेद, कण्ठ, क्लोम, घ्राण, और जिह्वा कहा गया है। इनमें भी उरःप्रदेश कफ का विशिष्ट स्थान कहा गया है। उरःप्रदेश में प्रधान अवयव फुफ्फुस तथा हृदय हैं। ये अवयव दोहरी आवरक कलाओं से ढँके होते हैं। इन कलाओं के मध्य में कफ का स्थान है। हृदय अपने संकुचन तथा विस्फार द्वारा सम्पूर्ण शरीर में रक्त को फेंकता रहता है और सम्पूर्ण शरीर से आगत रक्त का ग्रहण करता है। उक्त विक्षेप तथा ग्रहण कार्य के लिये हृदय अहर्निश संकुचित तथा विस्फारित होता रहता है। इस संकोच तथा विस्फार कार्य को अक्षुण्ण रहने के लिये हृदय का

सदा स्नेहन होना आवश्यक है। यह कार्य उक्त आवरक मध्यस्थ कफ द्वारा होता है। फुफ्फुसों का भी कार्य इसी प्रकार का है अतः इनका स्नेहन भी होना आवश्यक है। यह कार्य उनके आवरक मध्यस्थ कफ द्वारा होता है। इसीसे उरः प्रदेश को कफ का विशेष स्थान कहा गया है। शिरः करोटि में मस्तिष्क, अनु-मस्तिष्क एवं सुषुम्ना, शीर्षक आदि अवयव होते हैं। ये अवयव भी आवरक कलाओं से पारिव्याप्त रहते हैं और इन कलाओं के अन्दर भी उक्त अवयवों के स्नेहनार्थ कफ रहता है। मस्तिष्क तथा अनुमस्तिष्क में सम्पूर्ण शरीरव्यापी संज्ञा तथा चेष्टावाही नाड़ियों के केन्द्र हैं। ये केन्द्र अपने कार्य को सम्पन्न करने के लिये उक्त आवरक मध्यस्थ कफ से तृप्त होते रहते हैं। शिर को उत्तमाङ्ग कहा गया है क्योंकि यहां सभी इन्द्रियों का केन्द्र है और प्राण का स्थान है।

ग्रीवा में स्वरयंत्र, स्वरतंत्री, श्वासनलिका, तथा अन्न नलिका है। इन अवयवों को सदा मृदु बनाए रखने के लिए उनका स्नेहन आवश्यक है। अतः वहाँ कफ स्नेहन करने के लिये रहता है। ग्रीवा प्रदेश के उर्ध्वस्तर पर अनेक ग्रन्थियाँ हैं, जिनसे अन्न को छिन्न करने के लिये स्राव होता रहता है। इसके अतिरिक्त वहां ऐसी भी ग्रंथियाँ हैं जिनके अन्तःस्राव से शरीर का विकास होता है। जैसे लालाग्रंथियाँ और चुल्लिकाग्रंथियाँ। इन ग्रंथियों के अन्दर कफ का स्थान है। पर्व संधियों को कहते हैं। इन संधियों के संचार के लिये उनका स्नेहन आवश्यक है। यह

कार्य तत्रस्थ कफ (Synovial fluid) के द्वारा ही सम्पन्न होता है। आमाशय में आगत अन्न के परिपाक के लिये उनका घोल बनना आवश्यक है। अतः अमाशयस्थ कफ द्वारा उक्त कार्य सम्पन्न होता है। कण्ठ, क्लोम ये दोनों अवयव भी श्वास नलिका के ही अंगविशेष हैं। इन अवयवों को सदा मृदु बनाए रखना वहाँ की ग्रंथियों का कार्य है; जिनसे कफ का स्राव होता रहता है। जिह्वा का कार्य रस का ग्रहण करना है और यह कार्य तबतक सम्भव नहीं, जबतक आहार द्रव्य का विलयन (द्रव) नहीं बन जाय। अतः इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये जिह्वामूल में लालाग्रंथियाँ हैं; जिनसे कफ का स्राव होता है। इसी प्रकार घ्राण के यंत्रों का स्नेहन करने के लिये घ्राणगत ग्रंथियों से कफ का स्राव होता रहता है। अतः ये स्थान कफ के कहे गये हैं।

बोधक कफ

"बोधको रसनास्थायी" वाग्भट

"जह्वामूल कण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्त्तते।" सु० सू० अ० २१

"रसनास्थः सम्यग्रस बोधनात् बोधकः।" अ० सं० सू० २०

बोधक कफ का स्थान उक्त सूत्रों में रसना, जिह्वामूल, और कण्ठ कहा गया है। इन स्थानों में जिह्वामूलीय, हन्वधरीय और चुल्लिकाग्रंथियाँ होती हैं; जिनसे एक प्रकार का स्राव होता रहता है और अन्नद्रव्यगत स्वाद को ग्रहण करने के लिये मुखगत आहार

द्रव्य का विलयन बनता रहता है। चुल्लिका ग्रंथि के रस से सृजनकार्य का नियमन होता है। चुल्लिका ग्रंथि का रस शरीर-वृद्धि में बहुत बड़ा भाग लेता है।

तर्पक कफ

"शिरस्थोऽक्षतर्पणात् तर्पकः।" वा० सू० १२

"शिरस्थश्चक्षुरादीन्द्रिय तर्पणात् तर्पकः।" अ० सं० सू० २०

"शिरस्थः स्नेहसन्तर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहं करोति।" सु० सू० २१

उक्त सूत्रों में तर्पक कफ का स्थान—शिरःप्रदेश में मस्तिष्कावरणीकलामध्य है। चक्षुरादि इन्द्रियों का केन्द्र मस्तिष्क में रहता है और उनका संतर्पण तत्रस्थ कफ के द्वारा होता रहता है।

अवलम्बक कफ

"उरस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेनहृदयावलम्बनं करोति।" सु० सू० २१

"स त्रिकस्थः स्ववीर्यतः हृदयस्यान्न वीर्याच्च तत्रस्थ एव × × × अवलम्बकः।" वा० सू० १२

"स तूरस्थः × × × × अवलम्बक इत्युच्यते।" अ० सं० सू० २०

अवलम्बक कफ का स्थान उरःप्रदेश है। यह हृदयावरणी तथा फुफ्फुसावरणी कलाओं में स्थित हो दोनों अवयवों का स्नेहन करता है। दोनों फेफड़े तथा हृदय इनके संयोग से जो त्रिक् बनता है, उसका संधारण भी इसी के द्वारा होता है।

क्लेदक कफ

"तत्र आमाशये × × × × क्लेदकः ।" सु० सू० २३

"× × × यस्त्वामाशये संस्थितः क्लेदकः सः × × × ।"

वा० सू० १२

"आमाशयस्थितोऽन्नसंघातस्य क्लेदनात् क्लेदकः ।"

अ० सं० सू० २०

क्लेदक कफ आमाशय प्रदेश में स्थित हो अन्न संघात का क्लेदन (घोल) कर पाचक रसों के कार्य योग्य बनाता है ।

श्लेषक कफ

"संधिस्थस्तु श्लेष्मासर्वसंधिश्लेषणात्सर्वसंध्यनुग्रहं करोति ।"

सु० सू० २१

"श्लेषकः संधिषु स्थितः ।" वा० सू० १२

"पर्वस्थोऽस्थिसंधिसंश्लेषणात् श्लेषक इति ।" अ० सं० सू० २०

श्लेषक कफ शरीर के सभी छोटी-बड़ी संधियों में रहता है और उनका स्नेहन करता है ।

चौथा अध्याय

वात-पित्त कफ के प्रकृत कार्य

जगत स्रष्टा के सृष्ट-पदार्थों को समझने के लिये ही विभिन्न विज्ञानों में परस्पर होड़ लगी है। ये अतीतकाल से इसके रहस्योद्घाटन में प्रयत्नशील हैं। परिणामस्वरूप प्रतिक्षण किसी न किसी रहस्य का उद्घाटन होता है और इस प्रकार उद्घाटित रहस्य को पाकर विज्ञान अपने को कृतकार्य मानता है। मानव शरीर भी एक रहस्य है और इस रहस्य को समझने का अथक प्रयत्न पहले हुआ था और आज भी हो रहा है। अतीत काल में भारत जब अपनी सभी सिद्धियों तथा वैभवों से परिपूर्ण था और उसे सब प्रकार के साधन तथा अवसर तदर्थ प्राप्त था, उसने अर्थात् तत्कालीन ऋषियों ने मानव शरीर के रहस्य का सफल उद्घाटन किया था। वह आज भी उसी प्रकार अक्षुण्ण एवं निर्दोष हमारे सामने उपस्थित है।

दार्शनिकों ने शरीर को 'पिण्ड' और विश्व को 'ब्रह्माण्ड' शब्द से संज्ञित किया है। इस पिण्ड और ब्रह्माण्ड की सब प्रकार समीक्षा कर दोनों में समान क्रियाकलापों का दिग्दर्शन कराया है। आयुर्वेद के आर्षग्रन्थों में भी इसका स्पष्ट समर्थन मिलता है। जैसे—"यावन्तो हि लोके भाव विशेषाः, तावन्तः पुरुषे,

यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति।" (च० शा० ४), अर्थात् बुद्धिमान् लोग जिन-जिन भाव विशेषों का अवलोकन विश्व (ब्रह्माण्ड) में करते हैं ; उन-उन भाव विशेषों को पुरुष (कर्मपुरुष)—मानव शरीर के अन्दर भी देखते हैं और जिन-जिन भावों को मानव शरीर में देखते हैं, उन सबों का अवलोकन विश्व (ब्रह्माण्ड) में करते हैं। इस प्रकार पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड (शरीर तथा विश्व) साम्यरूप को दिखलाते हुए उनके अन्दर होनेवाले क्रिया-कलापों के नियोजकों का दिग्दर्शन सुन्दर ढङ्ग से शास्त्रों में उपलब्ध होता है। जिस प्रकार विश्व के धारण का सारा उत्तरदायित्व भिन्न-भिन्न क्रिया-कलापों से सोम—सूर्य और अनिल पर अवलम्बित है ; उसी प्रकार उनके प्रतिनिधि कफ-पित्त और वात पर शरीर के धारण का उत्तरदायित्व दर्शाया गया है।

विसर्ग-आदान और विक्षेप, इन तीन क्रियाओं द्वारा यह विश्व, सोम-सूर्य और अनिल इन तीन नियोजकों से परिधारित है अर्थात् सोम—सूर्य और अनिल अपनी-अपनी उक्त विसर्ग आदान और विक्षेप क्रियाओं से इस विश्व को धारण किये हुए हैं। इस विश्व के अन्दर अनेक चन्द्रादि ग्रह-नक्षत्र, खनिज वानस्पतिक तथा प्राणिज जगत् की उत्पत्ति-स्थिति तथा विनाश की क्रिया सदा अनवरत रूप से होती रहती है। इस उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के लिये विसर्ग (देना), आदान (लेना), विक्षेप (गति उत्पन्न करना) इन तीन क्रिया-कलापों का होना अनिवार्य है। इन क्रियाओं के सम्यक् रूप में होने से उत्पत्ति तथा स्थिति

की क्रिया तथा असम्यग् रूप में होने से विनाश की क्रिया होती है। सृष्टि और संहार की यह व्यवस्था जिस प्रकार विश्व में अनवरत होती रहती है, उसी प्रकार प्राणि-शरीर के अन्दर भी अनवरत होती रहती है। विश्व में इन क्रिया-कलापों का नियोजक जिस प्रकार सोम-सूर्य और अनिल हैं, उसी प्रकार प्राणि-शरीर में उनका प्रतिनिधि कफ-पित्त और वात है। जिनका वर्णन आयुर्वेद संहिताओं में निम्न प्रकार उपलब्ध होता है।

"विसर्गादानविक्षेपैः सोम-सूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफ-पित्तानिलास्तथा॥"

सु० सू० २१-७

यह सारा विश्व प्रकृति का परिणाम मात्र है। प्रकृति सत्त्व रज-तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम है। अतः प्रकृति का परिणाम यह जगत् भी सत्त्व, रज, तम का ही विकृत रूप है, अर्थात् उक्त गुणत्रय की जब विषमावस्था होती है तब प्रकृति अपने प्रकृत-अवस्था या रूप को त्याग कर विकृत रूप जगत् या विश्व का रूप धारण करती है। तात्पर्य यह कि यह विश्व सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की लीला मात्र है और इस विश्व का ऐसा कोई अंश नहीं जो उक्त गुणत्रय से भिन्न हो। लोक और पुरुष का साम्यभाव प्रतिपादित हो चुका है, अतः पुरुष (कर्मपुरुष) या मानव शरीर भी प्रकृति के विकार विश्व के समान ही सत्व-रज-तम के प्रतिनिधि पित्त-वात-कफ का ही खेल है

और मानव शरीर का ऐसा कोई अंश नहीं जो उक्त वात-पित्त और कफ के अतिरिक्त हो तथा जिसकी क्रियाएँ वात-पित्त-कफ की क्रिया-कलापों से भिन्न हों। इसका सुन्दर समर्थन भगवान धन्वन्तरि के निम्न वाक्य में उपलब्ध होता है—"यथाहि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं शरीररूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वात-पित्तश्लेष्माणो वर्त्तन्ते।"

देहपरमाणु और त्रिदोष (त्रिधातु)

"शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वा-दतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च।" च० शा० ७-१७

"दूष्यास्तु शरीरावयवा अणुशः परस्परमेलकेन विभज्यमाना असंख्येयाः।" च० सू० २० पर—चक्रपाणि

आधुनिक शारीरक्रियाविज्ञान-शास्त्रियों ने शरीर के उत्पादक सूक्ष्मतम अवयव को 'सेल' (Cell) कहा है। सेल का प्रति-शब्द 'जीवकोष' कुछ लेखकों ने दिया है। परन्तु मेरे विचार से उस (Cell) के अर्थ का बोधक शब्द जब प्राचीन साहित्य में उपलब्ध है तो उसे ही अपनाना अधिक श्रेयस्कर होगा। उक्त सूत्र में शरीर के सूक्ष्म-अवयव को परमाणु भेद से अपरिसंख्येय कहा है और उन्हें बाह्येन्द्रियों से अलभ्य कहा है। सेल भी इतना सूक्ष्म होता है कि हम बाह्येन्द्रिय चक्षु से नहीं देख सकते। उन्हें देखने के लिये अणुवीक्षण-यन्त्र की सहायता लेनी पड़ती है।

ये सेल भी अपरिसंख्येय होते हैं, अतः 'देह-परमाणु' तथा 'शरीर-परमाणु या देहाणु सेल का उपयुक्त प्रतिशब्द प्रतीत होता है।

देहपरमाणुओं का परिचय

रचना तथा क्रिया की दृष्टि से इन अणुओं को अपने-अपने अङ्ग की इकाई कहा जा सकता है; इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार हमारे वस्त्र सूतों से बने हैं और सूत तन्तुओं से बने हुए हैं उसी प्रकार शरीर नाना अवयवों से और अवयव देहपरमाणुओं से बने हुए हैं। तंतु जिस प्रकार वस्त्र की रचना में इकाई है, उसी प्रकार शरीर तथा अवयवों की रचना में देहपरमाणु भी इकाई है।

क्रिया की दृष्टि से भी ये देहपरमाणु अपने-अपने अङ्ग की इकाई है। तात्पर्य यह कि कोई अङ्ग अपना जो सहज कार्य करता है, वह कार्य मूल में उसके प्रत्येक देहपरमाणु में होता है। इन देहपरमाणुओं का सम्मिलित कार्य ही उस अवयव का कार्य होता है। जैसे लालास्राव करनेवाली ग्रन्थियाँ जिन देहपरमाणुओं से बनी होती हैं, उन सब देहपरमाणुओं में लालास्राव पृथक्-पृथक् उत्पन्न होता है। इस प्रकार उक्त सम्पूर्ण देहपरमाणुओं का स्राव एकत्र होकर अन्त को एक बड़ी वाहिनी द्वारा मुख में आता है। इसी प्रकार किसी मांसपेशी में जो कर्म होता है वह मूल में उसके असंख्य देहपरमाणुओं में होता रहता है—इत्यादि।

देहपरमाणुओं का विस्तार औसतरूप से ·०... से ·०.. इञ्च तक होता है। कई औद्भिद और प्राणि केवल एक देहपरमाणु के

बने होते हैं (Unicellular)। हमारे शरीर में पाचन, विसर्ग आदि कार्यों के लिये नानासंस्थानगत नानाविध देहपरमाणु हैं। प्रत्येक अवयव के देहपरमाणु केवल अपना ही कार्य करते हैं और कर सकते हैं। परन्तु एकाणुक प्राणी या औद्भिद् (Unicellular) में एक अणु में ही सब प्रकार के कार्यों की निष्पत्ति होती है।

"तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मस्वभावश्च।"

च० शा० ७-१७

देहपरमाणुओं का विभाजन

मानवादि प्राणियों के शरीर भी प्रारम्भ में एकदेहपरमाणुक (Unicellular) होता है। गर्भाशय में 'स्त्री-बीज' (Ovum) में 'पुं-बीज' (Spermetozoa) के अनुप्रवेश से एकाणुक सृष्टि होती है। प्राक्तन कर्म और वायु के प्रभाव से उक्त एकदेहपरमाणुक अवयव तरुण होकर दो खण्डों में विभक्त हो जाता है। ये दो खण्ड भी परिपक्व होकर दो-दो नये पितृतुल्य देहपरमाणुओं में परिणत हो जाते हैं। वे भी तरुण होकर नये-नये दो देहपरमाणुओं को जन्म देते हैं। कालान्तर में कर्मप्राबल्य से इन्हीं देहपरमाणुओं से नाना कार्य करनेवाले नानाजातियों और स्वरूपों के देहपरमाणुओं का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार नियतकाल में शरीर के सर्वाङ्गोपाङ्ग की रचनापूर्ण होती है और शरीर शिशुरूप धारणकर गर्भ से बाहर आता है। बाहर आने पर भी उसके शरीर के विकास का क्रम अविचल रहता है। एकदेहपरमाणुक औद्भिद् तथा प्राणियों की वंशवृद्धि का भी यही क्रम है।

शरीर का प्रत्येक देहपरमाणु अपने-आपमें पूर्ण चेतन है। तत्त्वज्ञों ने चैतन्य के जो लक्षण नियत किये हैं। वे जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार शरीर के अवयवभूत प्रत्येक देह परमाणु में पाये जाते हैं। शास्त्रों में चैतन्य के निम्न लक्षण उपलब्ध होते हैं :—

"इच्छा द्वेष प्रयत्न सुखदुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।"

न्याय सू० १-६

"प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुख-दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्नश्चात्मनो लिङ्गानि॥" वै० द० सू० ३-२-४

अर्थात्—इष्ट वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा, अनिष्टवस्तु के प्रति अप्रीति (द्वेष), इष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट वस्तु के परिहार का प्रयत्न, अनुकूल वस्तुओं की प्राप्ति से सुख, और प्रतिकूल वस्तुओं की प्राप्ति से दुःख। इन्द्रियादि जन्य ज्ञान, उच्छ्वास, निश्श्वास, निमेष, उन्मेष, जीवन, (शरीर की वृद्धि तथा व्रणादि का रोहण-लक्षण आदि), मन की गति तथा स्वादु वस्तु को देखकर मुख में पानी का आना आदि लक्षणरूपी इन्द्रियान्तर्विकार, ये सब चेतना के लक्षण हैं।

आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं ने भी चैतन्य के द्योतक निम्नचिह्नों का वर्णन किया है :—

(१) क्षोभ्यता या उत्तेजनशीलता (Irritability)—अर्थात् किसी बाह्यक्षोभक (Stimuls) का संयोग होने पर योग्य प्रतिक्रिया ; जैसे—पैर पर चिनगारी पड़े तो पैर हटा लेना

आदि, स्वादु वस्तु को देखकर मुख में पानी का आना, क्लोम की कला के पक्ष्मल-अणुओं की श्लेष्मा को दूर करने के लिये गति इत्यादि। प्राचीनोक्त इच्छा-द्वेष-प्रयत्न और इन्द्रियागार विकार सबका अन्तर्भाव उक्त क्षोभ्यता में हो जाता है।

(२) आत्मसात करण की शक्ति—पोषक द्रव्य-आहार को पचाकर अपने स्वरूप में मिला लेने का सामर्थ्य।

(३) पुष्टि—यह उक्त द्वितीय लक्षण का परिणाम है।

(४) उत्पादन की योग्यता—इनका स्वरूप ऊपर वर्णित है।

(५) मलोत्सर्ग—अर्थात् पोषणादि क्रियाओं में उत्पन्न अनुपादेय तथा अनिष्ट द्रव्यों का बहिर्निष्कासन।

इस प्रकार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम लक्षणों का प्राचीनोक्त प्राणापान तथा जीवन से सामञ्जस्य है। प्राचीन ज्ञान इन सब का आवश्यक अङ्ग होने से स्वयं इनके अन्दर आ जाता है।

देह-परमाणुओं की रचना

प्रत्येक देह-परमाणु एक पिच्छिल तरल-द्रव्य का बना हुआ होता है। पिच्छिल तथा तरल गुण प्रकृत-कफ का है, अतः 'गुणगुणिनोरभेदः' इस नियम के अनुसार यह पदार्थ कफ वर्ग का है। इस द्रव्य को आधुनिक विद्वान 'प्रोटो प्लाज्म' कहते हैं। डा० मुकुन्द स्वरूप ने इसका हिन्दी नाम 'आद्यसार' दिया है। अणुवीक्षण यन्त्र से देखने पर इनमें निम्न अवयव पाये जाते हैं:—

(१) 'साइटोप्लाज्म'—प्रोटो प्लाज्म का अधिकांश यही होता है।

इसमें पौन भाग ($\frac{3}{4}$) जल तथा शेष ($\frac{1}{4}$) में श्लेष्मा, खनिज द्रव्य तथा लाइपायड नाम का स्नेह-जातीय द्रव्य होता है। इन सब पदार्थों में कफ का ही प्राबल्य होता है। अतः यह भी प्रकृत कफ का आवान्तर भेद या कफ वर्ग का ही पदार्थ है।

(२) 'न्युक्लियस'—यह बुद्बुदाकार रचना है, जो प्रायः उक्त साइटोप्लाज्म के केन्द्र में रहती है। इसीसे इसका नाम कुछ लोगों ने 'केन्द्रक' रखा है। देह-परमाणुओं की पुष्टि तथा विभाजन द्वारा वृद्धि इसके ही अधीन है। न्युक्लियस में क्रोमोजम नाम के विशेष सूत्र होते हैं। प्रत्येक प्राणी या औद्भिद् वर्ग में इनकी संख्या नियत होती है। देह-परमाणुओं का विभाजन होने पर प्रत्येक क्रोमोजम के दो खण्ड हो जाते हैं, जो दोनों पुत्र-देहाणुओं में सम संख्या में विभक्त हो जाते हैं। तत्त्वज्ञों का मत है कि ये 'क्रोमोजम' वंश-परम्परागत प्रकृति के वाहक हैं। चरकसंहिता शारीर-स्थान चतुर्थ-अध्याय में इसका संकेत प्राप्त होता है। बीज, बीजभाग, तथा बीजभागावयव शब्द ; क्रमशः स्त्री-पुंबीज, न्युक्लियस तथा क्रोमोजम के लिये आया हुआ प्रतीत होता है। जैसे—

"यस्य-यस्य ह्यवयवस्य **बीजे बीजभागे** वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तं तमवयवं विकृतिराविशति। यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशय **बीजभागः** प्रदोषमापद्यते तदा बन्ध्यां जनयति, यदा पुनरस्याः शोणिते गर्भाशय **बीजभागावयवः** प्रदोषमापद्यते,

तदा पूतिप्रजां जनयति; यदात्वस्याः शोणितं गर्भाशय बीजभागावयवः स्त्री-कराणां च शरीर बीजभागानामेक देशः प्रदोषमापद्यते तदा स्त्र्याकृति भूयिष्ठामस्त्रियं वार्त्तां (रान्नां) जनयति; तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते।

च० शा० ४

(३) साइटोप्लाज्म में न्युक्लियस के अतिरिक्त 'सेन्ट्रियोल' नामक सूक्ष्म कण होता है। यह समीपवर्त्ती प्रोटोप्लाज्म को आकृष्ट किये रखता है। अतः इसकी सम्पूर्ण रचना को 'आकर्षक क्षेत्र' (Attractions sphere) कहते हैं।

देह-परमाणुओं का परस्पर-संधान उनके अन्तराल में स्थित अणुश्लेष्मा से (Intercellular material) होता है। श्लेष्मा शब्द आलिङ्गन अर्थ में 'श्लिष्' धातु से बना है। अतः जो भी द्रव्य शरीर के अणुरूप सूक्ष्म-अवयवों के या अन्य स्थूल अवयवों के संयोग (आलिङ्गन) का हेतु होगा, वह सब श्लेष्मा का ही रूप है। इस प्रकार देह-परमाणुओं के मध्य में स्थित उन देहाणुओं का संयोजक द्रव्य श्लेष्मा या कफ वर्ग का ही है। इन देह-परमाणुओं के अन्दर एक और तत्त्व होता है; जिसे धात्वग्नि (Intercellular enzyms) कहते हैं। इस तत्त्व का कार्य यह है कि जो भी पोषणादि पदार्थ भुक्ताम्ल-रस द्वारा देह-परमाणुओं के पोषणार्थ आते हैं, वे उनको अपनी उक्त अग्नि द्वारा पकाकर अपने योग्य बनाते हैं और उसे आत्मसात् कर परिपुष्ट होते हैं। देह-परमाणु का यह गुण तथा लक्षण पहले प्रतिपादित हो चुका है।

पाक परिवर्तन आदि कर्म पित्त के ही हैं, अतः देह-परमाणुगत उक्त तत्त्व पित्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

ऊपर चरकीय सूत्र द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि देह-परमाणुओं के संयोग विभाग का कारण प्राक्तन कर्म तथा वायु है। देह-परमाणुओं की रचना तथा उनके कर्म का निर्देश करते समय देह-परमाणुओं का विभाजक तद्गत केन्द्रक तथा आकर्षक क्षेत्र को कहा गया है। विभाजन तथा आकर्षण आदि कर्म आयुर्वेद शास्त्र में वायु का माना गया है। इसके अतिरिक्त देह-परमाणुओं में क्षोभ्यता तथा मल-निष्कासन आदि कर्म भी वायु के कारण ही होते हैं। इस प्रकार उक्त वर्णन में देह-परमाणुओं के अन्दर वात-पित्त तथा कफ का उनके कर्मों तथा रूपों से दिग्दर्शन कराया गया है।

औद्भिद् तथा प्राणि-शरीर उक्त देह-परमाणुओं से ही बने होते हैं। देह-परमाणुओं का आद्य उपादान वात-पित्त और कफ है। अतः उनका कार्य या कर्म वात-पित्त तथा कफ का ही कार्य या कर्म है। जिस प्रकार शरीर तथा शरीरावयव का कर्म उनकी निर्मायक देह-परमाणुओं का सामुदायिक कार्य है; उसी प्रकार देह-परमाणुओं का कार्य भी उसके निर्मायक वात-पित्त तथा कफ का सम्मिलित कार्य है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक देह-परमाणु के अन्दर जो वर्द्धन, विनाश तथा जीवन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब क्रमशः कफ-पित्त और वात के ही लक्षण हैं।

त्रिधातु और मानवशरीर के कर्मकारी भिन्न-भिन्न संस्थान

एक सुव्यवस्थित राज्य में अनेक अङ्ग जिस प्रकार परस्पर सहकार से एक-एक कार्य की सिद्धि करते हैं, उसी प्रकार शरीर के अङ्ग भी कतिपय अन्य अङ्गों के साथ मिलकर एक कार्य को सम्पन्न करते हैं और अपने-अपने कार्य-विशेष में लगे रहते हैं। उनके इस कार्यैक्य को देखकर आधुनिक शरीर-शास्त्रियों ने उन्हें एक-एक वर्ग में विभक्त किया है। इन वर्गों को संस्थान (System) कहा गया है। ये संस्थान संख्या में नौ हैं। इनके नाम निम्न प्रकार हैं :—

(१) अस्थि संस्थान, (२) मांस संस्थान, (३) पाचक संस्थान, (४) रक्तानुधावन संस्थान, (५) श्वास संस्थान, (६) विसर्ग संस्थान, (७) अन्तर्ग्रन्थि संस्थान, (८) प्रजनन संस्थान, (९) वात संस्थान या नाड़ी संस्थान।

संस्थानों के कार्य

'अस्थि संस्थान' में समस्त अस्थियों में और तरुणास्थियों का समावेश होता है। इस संस्थान का कार्य शरीर को एक विशिष्ट आकृति तथा प्रतिष्ठा प्रदान करना है। साथ ही यह संस्थान शरीरगत मर्मों का संगोपन का कार्य भी करता है। जैसे मस्तिष्क (शिरोमर्म) शिरःकपाल में, हृदय (मर्म) उरःपञ्जर में, तथा वस्ति (मर्म) वस्ति गुहा में सुरक्षित हैं। शरीर के सम्पूर्ण कर्म (चेष्टाएँ) मांस संस्थान द्वारा सम्पन्न होते हैं। इन्हीं

समस्त मांसपेशियों के द्वारा ही शरीरावयवोंका संकोच-विकास, चलना-फिरना, उठना-बैठना आदि कर्म सम्पन्न होते हैं। इसका एक और कार्य यह है कि यह देह पञ्जर को सुसंगठित गोल-आकृति प्रदान करता है। 'पाचक संस्थान' का कार्य भुक्तान्न को पचाकर परिशोषित करना तथा उसे रस-प्रवाह या रक्त-प्रवाह में पहुंचा देना है। यह संस्थान इस प्रकार शरीर के समस्त अङ्गों को तर्पण तथा सम्वर्धन के लिये उपयुक्त पोषण पहुंचाता रहता है। इस संस्थान में मुख, गला, अन्ननलिका, आमाशय, पच्यमानाशय, तथा पक्वाशय आदि का समावेश है। 'रक्तानुधावन संस्थान' में हृदय, धमनियाँ, शिराएँ, केशिकाएँ तथा रसायिनियाँ समाविष्ट हैं। इन में हो कर शरीर के प्राणभूत रुधिर तथा रस, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में जाते और आते हैं। 'श्वास संस्थान' में नासिका, कण्ठ (स्वरयंत्र), क्लोम तथा फुफ्फुसों की गणना है। इसका कार्य उच्छ्वास और निःश्वास द्वारा रुधिर में शुद्धवायु-प्राणवायु (Oxygen) पहुंचना तथा उससे दूषित वायु को बाहर निकालना है। 'विसर्ग संस्थान' में यकृत्, वृक्क, तथा त्वचा एवं अधर गुद हैं। इनका कार्य शरीर से मलों का विसर्जन करना (निकालना) है। फुफ्फुसों की भी गणना आंशिक रूप से इस संस्थान में की जा सकती है; क्योंकि ये भी मलभूत वायु को बाहर निकालते हैं। 'अन्तर्ग्रंथि संस्थान'-इसमें चुल्लिका, अधिवृक्क, आदि अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ हैं। इन ग्रंथियों में प्रत्येक को अपने अपने अन्दर विशिष्ट-रस उत्पन्न करने की क्षमता है। ये इस

रसों को रुधिर में भेजती हैं। शरीर की पुष्टि, विकास और स्वास्थ्य-संरक्षण में इनका बहुत बड़ा हाथ है। अपने-अपने रसों द्वारा ये ग्रंथियाँ शरीर के इतर अवयवों को उत्तेजित या अवसन्न करती हैं। 'जननसंस्थान' में पुरुषों और स्त्रियों की जननेन्द्रियों की गणना है। पुरुषों में वृषणग्रन्थियाँ, शुक्रवाहिनियाँ और स्त्रियों में अन्तःफल (Ovary) गर्भाशय, बीजवाहिनी तथा योनि हैं। 'नाड़ी संस्थान'—यह अन्य संपूर्ण संस्थानों या दूसरे शब्द में सम्पूर्ण शरीर-यन्त्र का अधिष्ठाता है। ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान और कर्मेन्द्रियों के कर्म का यही मूलस्थान है। इसी के प्रेरणा से शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग अन्य अङ्गों के अवरोध से अपना प्रतिनिर्दिष्ट कार्य करते हैं। इसमें सावयव मस्तिष्क, सुषुम्नाकाण्ड, नाड़ीकन्द (पद्म) और नाड़ियाँ (विश-तन्तु) (Nervous and dendretes) समाविष्ट हैं।

आयुर्वेदानुसार नाड़ी संस्थान वात-धातु का मुख्य आश्रय-भूत संस्थान है। वात के प्रकरण में इसका और भी स्पष्टीकरण हो जायगा। शरीर के उक्त नौ वर्ग के कार्य्यैक्य को देखते हुए किये गये हैं। रचना की दृष्टि से इन सबों को चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है। ये विभाग निम्न प्रकार से हैं—(१) आवरक धातु (Epethelial tissue), (२) योजक धातु (Connective tissue), (३) मांसधातु (Muscular tissue), और (४) नाड़ीधातु (Nerve tissue)। इनमें मांस धातु से मांस तथा नाड़ीधातु से नाड़ी संस्थान के अंग बने होते हैं। आवरक

धातु से बाह्य त्वचा, महास्रोत, (मुख से गुद पर्यन्त) रक्तवाहिनी आदि वाहिनियों की कला, तथा हृदय, फुफ्फुस, आदि आशयों और ग्रंथियों के बाह्य और आभ्यन्तर आवरण बने होते हैं। इस का कार्य शरीर की रक्षा, स्राव, मलों का उत्सर्ग, तथा अन्तरावयवों का धारण करना है। योजकधातु शरीर के अङ्गों को अपने आश्रय में रखता तथा उनका परस्पर सम्बन्ध करता है। यह धातु अस्थि, तरुणास्थि, दन्त, रक्त, मेद, लिम्फ्वायडधातु, तान्तवधातु और म्युकायड, स्थितिस्थापक, तथा सरियोलट नामक धातुओं को बनाता है।

उपयुक्त वर्णन में यद्यपि कार्य की दृष्टि से नौ विभागों का तथा रचना की दृष्टि से चार विभागों का दिग्दर्शन कराया गया है तथापि इनका यहीं अन्त नहीं हो जाता। इनके असंख्य विभाग हो सकते हैं। परन्तु उक्त विभाग अधिक सुबोध होने से आधुनिकों ने इनका ग्रहण किया है। इसी प्रकार विस्तृत से विस्तृत वर्णनों का संक्षेप करने की भी कोई सीमा नहीं। प्राचीन साहित्य में भी इस प्रकार के विस्तार तथा समास का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। उदाहरणतः आयुर्वेद शास्त्र में शरीर की उक्त सभी क्रियाओं तथा रचना को तीन मौलिक विभागों में ही मर्यादित किया गया है और उनका वर्णन समासरूप से उन तीन वर्गों के अन्दर ही सुव्यवस्थित किया गया है। विस्तृत वर्णनों का उल्लेख करते हुए अन्त में 'विस्तार की सीमा नहीं' इस उक्ति से उस वर्णन का संवरण किया गया है।

उक्त नौ संस्थानों का कार्य तीन संस्थानों में अर्थात् वात-पित्त-कफ संस्थान में मर्यादित किया गया है और उक्त चतुर्विध विभागों को भी तीन विभागों में अर्थात् वातवर्ग, पित्तवर्ग, और कफवर्ग में समाविष्ट किया गया है। इनका स्पष्टीकरण आगे के प्रकरणों में होगा।

मानव-शरीर एक साम्राज्य है

जिस प्रकार एक साम्राज्य को सुव्यवस्थित रखने के लिये साम्राज्याधिपति को द्विविध क्रिया-कलापों से अपने साम्राज्य को सुनियन्त्रित करना पड़ता है, उसी प्रकार मानव-शरीररूपी साम्राज्य के अधिपति आत्मा को भी द्विविध क्रियाकलापों से शरीर को सुनियंत्रित रखना पड़ता है। साम्राज्याधिपति (राजा) साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिये प्रबन्ध तथा न्याय-विभाग को (Executive and judicial Dept.) अलग-अलग रखता है। यद्यपि इनका परस्पर सम्बन्ध रहता है, तथापि सुविधा के लिये इन दोनों की पृथक शृंखलाएँ होती हैं। न्याय-विभाग उच्च न्यायालय (Hight court), न्यायालय तथा प्रजा, इन तीन शृंखलाओं में आबद्ध हो कार्य-सम्पन्न करता है। और प्रबन्ध विभाग व्यवस्थापिका सभा द्वारा नियुक्त मन्त्रियों, प्रबन्ध कार्यालय तथा प्रजा की शृंखला से कार्य करता है। प्रजा न्यायार्थ अपनी बातों को साधारण न्यायालय में पेश करती है और न्यायालय उस पर आवश्यक साक्षी लेकर उसका विचार करता है। यदि उसका निर्णय प्रजा को अमान्य होता है तो वह उसे पुनः

उच्च न्यायालय में विचारार्थ पेश करता है। वहां का निर्णय उसे मानना पड़ता है। न्यायाधीश लोग भी व्यवस्थापिका द्वारा रचित नियमों के अनुसार ही कार्य करते हैं। अतः उनका सम्बन्ध उक्त प्रबन्ध-विभाग की व्यवस्थापिका सभा से भी हो जाता है। प्रबन्ध का कार्य, विभिन्न मन्त्रियों द्वारा, सम्पन्न होता है। मन्त्रिगण अपने-अपने कार्य को अपने अधीन कार्य करनेवाले प्रबन्धकों की सहायता से (Executive office) अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। इन प्रबन्धकों तथा मन्त्रियों का सम्पर्क साक्षात् रूप से प्रजा से रहता है।

आत्मा (शरीराधिपति) भी अपने शरीररूपी साम्राज्य का कार्य मन-बुद्धि-अहंकाररूपी न्यायाधीशों की सहायता से इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों पर विचार एवं निर्णय करता है और उसके गुण-दोष को देखकर उसे अपनाता या त्यागता है। आत्मा का यह न्याय-विभाग है। अर्थों (विषयों) का ग्रहण (मनोधिष्ठित) इन्द्रियों द्वारा होता है और उसके गुण-दोष का विचार शरीररूपी साम्राज्य के उच्च न्यायालय में तीन न्यायाधीशों द्वारा होता है। मन विषयों का ज्ञान कर बुद्धि के सामने निर्णयार्थ रख देता है। बुद्धि उनके गुण-दोष का विचार कर उसपर उपादेय तथा हेय का मुहर लगा देती है, जो अहंकार द्वारा अपनाया या त्यागा जाता है। इसीको हमारे आचार्यों ने निम्न-श्लोक में सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया है।

"इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते ।
कल्प्यते मानसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका ।
व्यवस्यति तथा कर्त्तुं वक्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥"

च० शा० १

अर्थात् मनोधिष्ठित श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा पहले शब्दादि विषय ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार गृहीत निर्विकल्प ज्ञान को पुनः मन उनके गुण-दोष का विचार कर, वह विषय उपादेय है या हेय, इसका निश्चय करता है। यह निश्चय मनोबुद्धि-द्वारा होता है। इसके निश्चय हो जाने पर हम (अहंकार) उस कार्य को कहने या करने के लिये उद्यत होते हैं। पहले इन्द्रिय द्वारा गृहीत विषय, बाद में मन के द्वारा संकल्पित होने पर अध्यवसायात्मिका मनोबुद्धि द्वारा विवेचित होता है, 'यह ऐसा है, ऐसा नहीं है, करने योग्य है या नहीं करने योग्य है' इत्यादि ऊहापोह के बाद निर्णय होता है कि हम इसे करें या न करें। यहां अहंकार-व्यापार अनुक्त होने पर भी बुद्धि-व्यापार द्वारा सूचित हो जाता है। करने या न करने का सम्बन्ध 'अहं' से अर्थात् व्यक्ति विशेष से है, अतः अहंकार वहाँ स्वतः आ जाता है। इस प्रकार आत्मा अपने शरीररूपी साम्राज्य का न्याय-[illegible] कार्य, उक्त अर्थ—इन्द्रिय तथा मन-बुद्धि और अहंकार, [illegible]लाओं में सम्पन्न करता है।

जिस प्रकार उच्चन्यायालय (High Court) न्यायाधीश-गण व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार अपने कार्य को सम्पन्न करते हैं, उसी प्रकार शरीररूपी साम्राज्य के उच्चन्यायालय के न्यायाधीशगण (मन-बुद्धि-अहंकार) भी शरीर की व्यवस्थापिका सभा के मन्त्रिगण से अनुशासित होते हैं। वायु के कर्मों का वर्णन करते समय आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि "नियन्ता प्रणेता च मनसः" अर्थात् वायु मन का नियन्ता तथा प्रणेता है। मानव-शरीर-रूपी साम्राज्य की व्यवस्थापिका के मन्त्रिगण पञ्चवायु हैं, जिनमें प्राण-वायु प्रधान-मन्त्री का कार्य करते हैं। प्राण-वायु के कार्यों को देखने से पता चलता है कि श्वास-प्रश्वास, रक्त-संवहन तथा मस्तिष्कगत कार्य—सभी प्राण-वायु के ही अधीन रहता है। प्राण-वायु का स्थान भी मुख्यतः हृदय, फुफ्फुस तथा मस्तिष्क है, यह पहले कहा जा चुका है। शरीर को अक्षुण्ण एवं जीवित रखने का प्रधान कार्य उक्त अवयवों द्वारा ही सम्पन्न होता है। अतः प्राण-वायु जो उक्त अवयवों का अधिष्ठाता है, प्रधान मन्त्री है। उदान-वायु के स्थान तथा कर्म को देखने से पता चलता है कि वह शरीर-साम्राज्य का प्रचार-मन्त्री है। समान-वायु अग्नि का संधुक्षण कर अन्नरस-निर्माण करता है तथा निर्मित अन्नरस से मल-भाग को पृथक् कर उसे पोषण योग्य बनाता है, अतः यह अर्थ-मन्त्री का कार्य करता है। अपान वायु शरीर के मलों को बाहर निकाल, शरीर को स्वस्थ बनाए रखता है, अतः स्वास्थ्य-मन्त्री का कार्य अपान-वायु करता है।

सम्पूर्ण शरीर में रस-रक्तादि का संवहन कराना तथा चेष्टाओं का प्रवर्तन कराना व्यान-वायु का कार्य है। अर्थात् लेन-देन तथा शरीर के विभिन्न स्थानों में उपयुक्त पोषणादि को पहुंचाने के कारण यातायात एवं कर-विभाग इसके अधीन रहते हैं। इस प्रकार उक्त पांचों वायु अपने-अपने कार्यों द्वारा शरीर-रूपी साम्राज्य की व्यवस्था तथा प्रबन्ध का कार्य करते हैं। परन्तु व्यवस्था तथा प्रबन्ध का कार्य सम्पन्न करने के लिये इन्हें प्रबन्ध-कर्मियों (Executive officers) की आवश्यकता होती है, जो उत्पादन तथा साम्राज्य को समृद्ध करने में सहायक हों। यह कार्य पित्त तथा कफ द्वारा सम्पन्न होता है। पित्त अपने पाक तथा परिवर्तन-क्रियाओं द्वारा तथा कफ-वर्द्धन क्रिया द्वारा उक्त कार्य को सम्पन्न करता है। ये पित्त तथा कफ अपने आग्नेय तथा सौम्य गुणों से उत्पादन तथा सम्बर्धन-क्रिया को सम्पन्न करते हैं।

जिस प्रकार एक साम्राज्य का कार्य मन्त्रियों के बिना सम्पन्न कथमपि नहीं हो सकता, उसी प्रकार शरीर-रूपी साम्राज्य का कार्य भी केवल पित्त तथा कफ से, वायु की सहायता बिना-सम्पन्न नहीं हो सकता, यही कारण है कि आचार्यों ने पित्त तथा कफ को पंगु कहा है। जैसे—

"पित्तं पगुः कफः पंगुः पंगवो मल धातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥"

तथा च—"स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्चाभूतानां भावा

भावकरः सुखासुखयोर्विधाता, मृत्युर्यमोनियन्ता प्रजापतिरदिति-विश्वकर्मा विश्वरूपः सर्वगः सर्वतन्त्राणां विधाता भावानामणुर्विभु-र्विष्णुः, क्रान्ता लोकानां, वायुरेव भगवानिति ।"

च० सू० १२

वात-पित्त-कफ शरीर के आरोग्य के मूल कारण हैं

"सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्या-पन्नेन्द्रियं बलवर्णसुखोपपन्नमायुषामहतोपपादयन्ति सम्यगेवा चरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महता पुरुषमिहचामुष्मिंश्च लोके ।"

च० सू० १२

"शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि ।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः ॥"

सु० सू० ६-८

"अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः ।
पीड्यते धार्यते चैव विकृता विकृतास्तथा ॥"

च० चि० २६

अर्थात् कौशलपूर्वक किये गये धर्म, अर्थ और काम जिस प्रकार परस्पर बाधक न होते हुए अन्त में पुरुष को इहलोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष-प्राप्ति कराते हैं; वैसे ही वात-पित्त-कफ जब सम-अवस्था में होते हैं, तब अविकल इन्द्रियोंवाले पुरुष को बल, वर्ण, सुख तथा दीर्घ-आयु से सम्पन्न करते हैं। यह इनकी प्रकृत अवस्था कहलाती है।

चन्द्र-सूर्य और वायु जिस प्रकार अविकृत होकर क्लेदन, शोषण और विक्षेपण रूप अपने-अपने कर्म से जगत् का धारण करते हैं, वैसे ही चन्द्रस्थानीय श्लेष्मा (कफ), सूर्यस्थानीय पित्त तथा वायुस्थानीय वातधातु स्वयं सुव्यवस्थित हों (प्रकृत-अवस्था में हों) तो देह को धारण तथा सुव्यवस्थित रखते हैं। इसके विपरीत विकृत चन्द्र, सूर्य और वात जिस प्रकार प्रकृति में विक्षोभ का कारण होते हैं, वैसे ही वात, पित्त और कफ विकारग्रस्त हों, तो शरीर को विकृत करते हैं। इसी से प्रकृतिस्थ वातादि का नाम प्रसाद या धातु और विकृत का मल या दोष है।

विरुद्धैरपि नत्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्।
दोषाः सहज सात्म्यत्वाद् विषं घोरमहीनिव ॥

च० चि० २६

उक्त तीनों दोष विरुद्धगुणवाले होने पर भी एक दूसरे का नाश न करते हुए शरीर का धारण करते हैं। सर्प का विष अन्यों के लिये घातक होता हुआ भी जैसे सर्प की कोई क्षति नहीं करता ; वैसे ही वातादि दोषों की अविरुद्धता स्वभाव-सिद्ध है।

वात-पित्त-कफ मानव-प्रकृति के निर्मायक

प्रत्येक पुरुष का विशिष्ट शारीरिक स्वरूप और मानसिक स्वभाव होता है। इसे उसकी प्रकृति कहते हैं। पुरुषों की इन प्रकृतियों का कारण वातादि दोष ही । अतः इनके संसर्ग-सन्निपात से सात प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं ; जैसे—पृथक्-पृथक्

दोषों से तीन (वातल, पित्तल तथा श्लेष्मल), संसृष्ट दोषों से तीन (वात पित्तल, वात श्लेष्मल और पित्त श्लेष्मल) और समस्त दोषों से एक, अर्थात् वातपित्तश्लेष्मल ।

"सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक्, द्विशः समस्तैश्च ।"

सु० शा० ४–६२

ये सात प्रकृतियाँ सहज होती हैं अर्थात् इनका निर्माण गर्भ में ही हो जाता है ।

"शुक्र शोणित संयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः ।
प्रकृतिर्जायते तेन ॥" सु० शा० ४–६३

"शुक्रशोणित प्रकृतिं, कालगर्भाशय प्रकृतिं मातुराहारविहार प्रकृतिं, महाभूतविकार प्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते । एतानि हि येन येन दोषेणाधिकेनानेकेन वा समनुबध्यन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते ; ततः सा दोष प्रकृतरुच्यते मनुष्याणां गर्भादि-प्रवृत्ता । तस्माच्छ्लेष्मलाःप्रकृत्या केचित् पित्तलाः केचित् वातलाः केचित् संसृष्टाः केचित् समधातवः केचित् ॥"

च० वि० ८

अर्थात् शुक्र और शोणित का संयोग होने पर जिस दोष का आधिक्य होता है, उसके अनुसार ही मनुष्य की प्रकृति बनती है। शुक्र और शोणित के संयोग के समय दोष-विशेष की अधिकता निम्नोक्त वस्तुओं पर अवलम्बित होती है । शुक्र और शोणित के संयोग-काल की प्रकृति अर्थात् उनमें दोष-विशेष का आधिक्य ; उस समय ऋतु, अहोरात्र आदि काल की प्रकृति,

गर्भाशय की प्रकृति ; माता के आहार-विहार की प्रकृति ; उस समय पञ्चभूतों (बाह्यसृष्टि) की प्रकृति अर्थात् किसी भूत की स्वाभाविक या वैकारिक न्यूनाधिकता। ये जिस दोष के अनुकूल होंगे, वही प्रबल होकर गर्भ की प्रकृति बनायेगा। इनमें भी काल आदि शुक्र और शोणित को प्रभावित करते हुए ही प्रकृति के जनक होते हैं। अतः प्रायः संयुक्त हुए शुक्र और शोणित को ही प्रकृति का आरम्भक कहा जाता है।

तीनों दोषों का साम्य—स्वस्थ-प्रकृति का लक्षण

"समपित्तानिल कफाः केचिद्गर्भादिमानवाः।
दृश्यन्ते वातलाः केचिद् पित्तलाःश्लेष्मलास्तथा ॥
तेषामनातुरा पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः।
दोषानुशयिताह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥" च० सू० ७

अर्थात् कई मनुष्य गर्भ से ही समान वात-पित्त और कफ-वाले होते हैं। परन्तु कई वात-प्रधान, पित्त-प्रधान और कफ-प्रधान भी होते हैं। (इसी प्रकार संसर्ग से कई द्वन्द्वज प्रकृति-वाले भी होते हैं। इस प्रकार प्रकृतियाँ सात प्रकार की होती है)। इनमें से सम-वात-पित्त-कफवाले नीरोग होते हैं और दूसरे अर्थात् वात - प्रधान आदि सदा ही रोगी रहते हैं। (वस्तुतः इनमें किसी दोष की प्रधानता होने से ये विकृति ही हैं। परन्तु वातल आदि पुरुष जो दोष-प्रधान होते हैं, उन्हीं के नाम से उनकी देह-प्रकृति कहलाती है। जैसे हम कहते हैं कि

अमुक मनुष्य की वात-प्रकृति, अमुक की पित्त-प्रकृति है, इत्यादि। इन्हें उपचार-रूप से ही स्वस्थ कहा जाता है।) वातादि दोष के गर्भ से लेकर मृत्यु-पर्यन्त रहने के कारण वातल आदि देह-प्रकृति कही जाती है।

स्वस्थ के लक्षण में स्पष्टरूप से कहा गया है कि स्वस्थ नाम ही उसका है, जिसके दोष, अग्नि, धातु, उपधातु और मल तथा इनकी क्रियाएँ सब सम हों, तथा जिसकी आत्मा, इन्द्रिय तथा मन प्रसन्न—(निर्मल, लघु, अपना कार्य करने में पटु) हो।

चरक विमान स्थान छठे अध्याय में इस प्रश्न को उठाया गया है और यह कहा गया है कि वातल आदि को प्रकृति न कहकर 'दोष-प्रकृति' या विकृति ही कहना योग्य है। यह सत्य है कि प्रायः मनुष्य-विषमाहार-विहारशील होने से समवात-पित्त-कफ-वाला होना दुर्लभ है। वातल आदि ही अधिक उपलब्ध होते हैं, परन्तु आदर्श तो वात-पित्त-कफ का साम्य ही है। अतः वही प्रकृति है। चिकित्सा का उद्देश्य भी वैद्यमात्र के मत में प्रवृद्ध दोषों को क्षीण तथा क्षीण को प्रवृद्ध कर दोषत्रय को साम्य में लाना ही है। फिर भी लोक में वातल आदि के लिये प्रकृति शब्द का प्रयोग व्यवहार-सिद्ध है।

प्रकृतियाँ आजन्म बनी रहती हैं

"प्रकोपो वाऽन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः॥

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।
तद्वत् प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥"

सु० शा० ४

अर्थात् प्रकृतियां आजन्म-आमरण अपरिवर्त्तित रहती हैं। उनका न प्रकोप होता है, न क्षय और न प्रकृति-भेद होता है। विष से उत्पन्न कीट के लिये जैसे विष स्वभाव से ही मारक नहीं होता, वैसे ही वातलादि प्रकृतियां पुरुषों को क्षति नहीं पहुंचातीं। आशय यह है कि जिनका स्वरूप आगे वर्णित होगा, वे प्रकृतियां तो आमरण नहीं बदलतीं, परन्तु वातादि दोषों में न्यूनाधिकता अवश्य होती रहती है।

दोषों (वात-पित्त-कफ) से ही चार प्रकार की अग्नि

"समदोषैः समो मध्ये देहस्योष्माऽग्निसंस्थितः ।
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बल वृद्धये ॥
दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमैर्जनयेद् गदान् ॥"

च० वि० १५

"अग्निषु तु शरीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति। तद्यथा तीक्ष्णो, मन्दः, समो, विषमश्चेति। तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचार सहः, तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्दः, समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारस्तु प्रकृतावववतिष्ठते समलक्षणविपरीत-लक्षणस्तु विषम इति। एते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव

पुरुषाणाम्। तत्र समवातपित्तश्लेष्माणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमाभवन्त्यग्नयः, पित्तलानां तु पित्ताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः, श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दाभवन्त्यग्नयः।"

च० वि० ६-१२

अर्थात्—पाचक-शक्ति के भेद से अग्नि के चार भेद हैं—सम, विषम, तीक्ष्ण और मन्द। इस भेद के कारण ही दोष (वात-पित्त-कफ) होते हैं। जिन पुरुषों के तीन दोष सम हों, उनकी अग्नि भी सम होती है। उसका लक्षण यह है कि मिथ्याहार-विहार से उसमें विकार आ जाता है ; अन्यथा वह रूप में बना रहता है और यथासमय भुक्तान्न को यथायोग्य (अम्लपाक आदि विकृतियों से रहित) पचाता है, एवं धातुओं को समावस्था में रखता है; तथा आरोग्य, पुष्टि, आयु और बल की वृद्धि करता है। इससे विपरीत अग्नि को 'विषमाग्नि' कहते हैं ; जो कभी तीक्ष्ण, कभी मन्द होता है। विषम अग्नि कभी अन्न को सम्यक् प्रकार से पचाता है और कभी आध्मान, शूल, उदावर्त, अतिसार, उदरगौरव, अंत्रकूजन और प्रवाहण (मलोत्सर्ग में ऐंठन) उत्पन्न करके अन्न को पचाता है। 'तीक्ष्ण अग्नि' सर्व प्रकार के मिथ्याहार-विहार के सहन में समर्थ होता है। उसका कारण पैत्तिक पुरुषों में अग्निस्थान का पित्त से अभिभूत होना है। यह प्रभूत मात्रा में भी सेवन किये हुए अन्न को शीघ्र पचाता है। पाक के अनन्तर यह गला, तालु और ओष्ठ में

शोष, दाह और संताप आदि पैत्तिक लक्षण उत्पन्न करता है। यही अग्नि उपेक्षावश अत्यधिक बढ़ जाय, तो 'भस्मक' या 'अत्यग्नि' नामक रोग उत्पन्न कर देता है। इसके विपरीत अग्नि को 'मन्दाग्नि' या 'दुर्बलाग्नि' कहते हैं। यह श्लेष्मिक पुरुषों में अग्नि के अधिष्ठान के श्लेष्मा से आवृत होने से होता है। यह अल्प मात्रा में भी लिये गये अन्न को चिरकाल में पचाता है तथा उदर और शिर में गौरव, कास, श्वास, प्रसेक, वमन और अङ्गसाद, आदि कफज रोग उत्पन्न करता है।

दोषों से ही तीन प्रकार के कोष्ठ

"तत्र मृदुः, क्रूरो, मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठोभवति। तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापिविरिच्यते ; बहुवात श्लेष्मा क्रूरः, सदुर्विरेच्यः, समदोषो मध्यमः, स साधारण इति।"

सु० चि० ३३-२१

अर्थात् क्रूर, मृदु, और मध्य तीन प्रकार के कोष्ठों के कारण भी दोष (वात-पित्त-कफ) ही हैं। इनमें पित्त के कारण मृदु और वात तथा श्लेष्मा के कारण क्रूर कोष्ठ तथा समदोष से मध्यम या साधारण कोष्ठ का निर्माण होता है। इनमें सम कोष्ठ प्रशंसनीय है। किसी-किसी आचार्य ने वायु के कारण क्रूर, पित्त के कारण मृदु तथा श्लेष्मा के कारण सम या मध्यम कोष्ठ होता है, ऐसा कहा है। अ० हृ० सू० १-९ पर हेमाद्रि ने खरनाद का निम्न पद उक्त मत के समर्थन में उद्धृत किया है—

"वातोल्वणा स्याद् ग्रहणी क्रूरकोष्ठस्य देहिनः ।
पित्तला मृदुकोष्ठस्य योगवाहो तयोः कफः ॥"

मृदु कोष्ठवाला पुरुष सुविरेच्य होता है। उसे उष्णोदक, दूध, द्राक्षारस, इक्षुरस, आदि से भी मलशुद्धि हो जाती है। इसके विपरीत क्रूर कोष्ठ पुरुष को दन्ती आदि से भी कठिनाई से विरेचन होता है।

पित्त प्रकृति-पुरुष के लक्षण

पित्त के अग्नि रूप और उष्णवीर्य होने से पित्तप्रकृति-पुरुष (पित्तल पुरुष) उष्ण-आहार, औषध-द्रव्य, धूप, ताप, देश, काल आदि के सहन में असमर्थ, उष्ण द्वेषी, चन्दन आदि लेप द्रव्यों, फूलों, हारों, भूषणों आदि में रुचि रखने वाला, उष्ण अङ्गों वाला, शुष्क, सुकुमार और गौर वर्णवाला ; व्यंग, तिल पिडका (फुंसी) निलिका और तरङ्गों से (क्षुद्ररोग विशेष) प्रायः पीड़ित ; तीव्र भूख और प्यास वाला ; शीघ्र ही वार्धक्य के लक्षणों वाला, (झुर्री, केशों की धवलता तथा केशपात से आक्रान्त होने वाला) और प्रायः मृदु, अल्प, क्षुद्र, तथा कपिल वर्ण के लोम, केश और अश्मश्रु वाला होता है। पित्त की तीक्ष्णता के कारण वह (पित्तल-पुरुष) तीक्ष्ण-पराक्रम वाला, तेजस्वी, मेधावी, तीक्ष्णबुद्धि वाला, सभा तथा युद्ध में अपनी प्रतिभा और शूरता से प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने वाला, निर्भय, किसी से न दबने वाला, धृष्ट पुरुषों के साथ कठोर व्यवहार करने वाला, परन्तु

शरणागत, और नम्र शत्रु पर भी प्रीति रखने वाला, शीघ्र कुपित और प्रसन्न होने वाला, अभिमानी, साहसी, तीक्ष्णाग्नि, बार-बार तथा प्रभूत अन्नपान ग्रहण करने वाला तथा क्लेश सहन में अक्षम होता है। पित्त के द्रवत्व के कारण वह शिथिल-संधियों और मांस वाला, तथा स्वेद, मूत्र और पुरीष की बहुलता वाला; पित्त के विस्र (आमगंधी) होने से दुर्गन्धयुक्त कांख, मुख, शिर तथा शरीरवाला; पित्त के कटु और अम्ल होने से अल्पशुक्र, काम, मैथुन और संतान वाला तथा स्त्रियों की प्रीति न संपादित करने वाला होता है। उसके नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, ओठ, हथेली तथा तलवे ताम्र वर्ण होते हैं। मधुर, कषाय, तिक्त तथा शीत आहार उसे प्रिय होते हैं। स्वप्नों में उसे पुष्पित-अमलतास, ढाक, दिशाओं में आग, उल्का, विद्युत्, सूर्य, अग्नि इत्यादि पीत-उष्ण और दाहक वस्तुओं का दर्शन होता है। उसके नेत्र छोटे-पिङ्गलवर्ण, छोटे-छोटे लोम वाले, प्रायः शीत, चपल, तथा क्रोध, मदिरा और सूर्य के प्रकाश से शीघ्र लाल हो जाने वाले होते हैं। वह मध्य-आयु वाला, मध्यबल वाला, मध्य ज्ञान-विज्ञान-धन और उपकारण वाले तथा क्लेश-भीरु होते हैं। च० वि० ८; सु० शा० ४; अ० हृ० शा० ३

कफ-प्रकृति-पुरुष के लक्षण

श्लेष्मा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार (दृढ़) मन्द, स्तिमित (स्थिर), गुरु, शीत, पिच्छिल, स्वच्छ तथा सौम्य होता है।

अतः श्लेष्म-प्रकृति के पुरुष में भी स्वभावतः तादृश लक्षण पाये जाते हैं। उसके अङ्ग स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, नयनानन्ददायी, सुकुमार, शुभ्र तथा सुन्दर होते हैं। प्रत्येक अवयव सुडौल, सम, घन, सारवान तथा बलसम्पन्न, संधियाँ स्थिर, गूढ़ तथा सुबद्ध, मांस प्रभृति और अस्थियाँ सुपुष्ट होती है। मुख की छवि, वर्ण, तथा स्वर स्निग्ध तथा प्रसन्न होते हैं। नेत्र धवल, किनारों पर ललाई लिये-स्निग्ध, विशाल; भौंह काली और शब्द मेघ, मृदंग या सिंह के स्वर के सदृश गम्भीर होता है। उसका वर्ण दूर्वा, इन्दीवर, खड्ग, ताजा-अरीठा सरकण्डा, प्रियंगु, गोरोचना वा सुवर्ण, इनमें से किसी के समान होता है। बाहु विशाल, वक्षस्थल विपुल तथा भारदार, ललाट विस्तृत तथा केशावली स्थिर (न झरनेवाली) कुटिल, गहरी-काली होती है। उसकी गति मदयुक्त गजराज के समान तथा चरण-निक्षेप (कदम) सम्पूर्ण, अस्खलित तथा अचल होता है। उसकी क्षुधा तथा तृष्णा मन्द होती है; मधुर रस उसे प्रिय होता है। वह तिक्त, कषाय, कटु, उष्ण, रूक्ष तथा अल्प भोजन करता है तथापि बलवान होता है। उसे धूप, ताप, तथा स्वेद कम पीड़ित करते हैं। ओज, शुक्र, मैथुन, संतान तथा भृत्य उसके प्रभूत होते हैं। उसकी सभी चेष्टाय, आहार तथा व्यवहार मन्द होते हैं। वह सहसा कोध, शोक आदि मानसिक विकारों का ग्रास नहीं होता; प्रत्युत सहनशील, धैर्यशाली, क्षमावान और परिश्रमी होता है। बचपन में भी वह अधिक रोनेवाला तथा चपल स्वभाववाला नहीं होता।

वह धर्मात्मा होता है। उसके मुख से कभी निष्ठुर वाक्य नहीं निकलते। वह सरल, कृतज्ञ, निर्लोभ, गम्भीर, सात्विक, ईर्ष्या-रहित, विनीत, वृद्धों का मान करनेवाला, श्रद्धालु, सत्यप्रतिज्ञ, सौम्य तथा शालीन होता है। उसका स्वभाव प्रत्येक कार्य को धीरे-धीरे करनेवाला होता है। वह परिमित, किन्तु निश्चित बोलता है। दान बहुत विचार कर करता है। पर जब करता है, तो खूब उदारतापूर्वक करता है। वह बात को देर से समझता है, पर एक बार समझ लेने पर वह उसकी स्मृति पर चिर काल तक बनी रहती है। वह शास्त्र-सम्पन्न, बुद्धिमान तथा दीर्घदर्शी होता है। उसकी मित्रता भी स्थिर होती है। वह लक्ष्मी-सम्पन्न होता है। उसका मन स्थिर होता है। चिरकाल स्थायी एवं दृढ़ वैर करनेवाला होता है। उसे निद्रा अधिक आती है। स्वप्नों में उसे कमल, हंस और चक्रवाकों से परिशोभित जलाशयों तथा जलदावली का दर्शन होता है। संक्षेप में वह (श्लेष्मक) पुरुष बलवान, धनवान, विद्वान, ओजस्वी, शान्त तथा दीर्घायु होता है। च० वि० ८, सु० शा० ४, अ० हृ० शा० ३

वात-प्रकृति-पुरुष के लक्षण

वात-प्रकृति-पुरुष रूक्ष, [कृश अपचित (मेद रहित) और दीर्घ (लम्बे) शरीरवाले होते हैं। उनके जांघ आदि अवयव निर्मांस और निर्मेद होने से बटे हुए से होते हैं। उनके केश, श्मश्रु, रोम, नख, तथा दन्त अल्प (छोटे) परुष (खुरदरे) तथा धूसरवर्ण (मटमैले) होते हैं। मुख, हाथ-पैर, आदि अङ्ग भी रूक्ष

परुष तथा फटे हुए होते हैं। उनके नेत्र, रूखे, धूसर, गोल असुन्दर तथा मृतवत् होते हैं। वात प्रकृति-पुरुषों में किसी का स्वर बैठा हुआ, किसी का चल, किसी का जर्जर (फटा हुआ) किसी का गद्गद (रुक-रुक कर निकलनेवाला) और रूक्ष तथा क्षीण होता है। उनकी रक्तबाहिनियां फूली हुईं तथा कण्डराएँ उभरी हुईं होती हैं और त्वचा पर से दीखाई देती हैं। वायु के चाञ्चल्य के कारण वातिक पुरुषों की संधि, नेत्र, भौंह, हनु, कनपटी, ओष्ठ, जिह्वा, सिर, कन्धा, हाथ, पैर सब अस्थिर होते हैं—सदा चलते रहते हैं। उनकी बुद्धि भी अस्थिर (चञ्चल) होती है। मैत्री भी उनकी अस्थायी होती है। उनकी गति-चेष्टा, आहार, तथा वाचा में हलकापन और चापल्य होता है। चलते हुए उनके पैर की संधियों में फूटने के शब्द होते हैं। वे बड़े वाचाल तथा असम्बद्ध भाषी होते हैं। वे अदृढ़ (मानसिक तथा शारीरिक दृढ़ता से रहित) अजितेन्द्रिय, अनार्य, नास्तिक, चोर, मत्सरी, क्रोधी, तथा कृतघ्न होते हैं। वे गन्धर्व स्वभाव के होते हैं—अर्थात् गीत, वाद्य, नृत्य, हास्य, मृगया, विलास तथा कलह उन्हें प्रिय होते हैं। मधुर, अम्ल, लवण, तथा उष्ण-आहार उनको रुचिकर होता है। वे खाउ होते हैं। वायु के शीघ्र स्वभाव के कारण वायु प्रकृति के पुरुषों में भय, प्रीति, विरक्ति, क्रोध, क्षोभ, काम आदि विकार तथा कार्य का निश्चय (समारम्भ) शीघ्र उत्पन्न होते हैं। उनका स्वभाव जल्दबाज होता है। कही हुई बात वे शीघ्र समझ लेते हैं ; परन्तु उनकी स्मृति-अल्प होती है।

वायु के शीत गुण होने से उनमें शीतकाल या शीत द्रव्योंकी सहिष्णुता कम होती है, तथा अल्प कारण से उनमें स्तम्भ (अङ्गों का जकड़ना) कम्पन, आदि विकार पाये जाते हैं। वे अल्पवीर्य तथा अल्पबलवाले होते हैं। स्त्रियों की प्रीति सम्पादन की शक्ति उनमें न्यून होती है। उनके संतान, आयु, साधन, धन और मित्र अल्प होते हैं। उन्हें निद्रा कम आती है। सोते समय उनकी आँखें अधखुली रहती है। दाँत किटकिटाते हैं तथा उन्हें आकाश में उड़ने एवं पर्वतों और वृक्षों के लाँघने का स्वप्न देखते हैं। च० वि० ८; सु० शा० ४ ; अ० हृ० शा० ३

प्रकृतियों पर आधुनिक विचार

आधुनिक साहित्य में आयुर्वेद के समान प्रकृतियों (पुरुष के स्वभावों) की विशेष छानवीन न पाये जाने पर भी कुछ विद्वानों ने इस दिशा में कुछ विचार किया है, ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है। आधुनिक साहित्य में प्रकृतिशब्द के निकट अर्थबोधक शब्द 'टेम्परामेन्ट' (Temperament) व्यवहृत हुआ है। रूस निवासी, नाड़ी संस्थान के आधुनिक विद्वानों में धुरन्धरविद्वान 'पैवलोम' ने इस पर अपना मत प्रकट किया है, जो निम्न प्रकार है—

'दो प्रकार की वस्तुओं का नाड़ी-संस्थान पर सर्वदा प्रभाव हुआ करता है। एक प्रकार की वह वस्तु है, जो इसकी क्रिया को मन्द या अवसन्न करती है। इन्हें अवसादक वस्तु (Inhibitory stimulus) कहते हैं। दूसरे प्रकार की वस्तु वे हैं, जो नाड़ी-

संस्थान को क्षुभित या उत्तेजित किया करती हैं। इन्हें क्षोभक या उत्तेजक (Excitatory stimulus) कहते हैं। उदाहरण-रूप से—भोजन-काल उपस्थित होने पर पाचक रसों का स्राव नाड़ी-संस्थान सम्बन्धी एक प्रसिद्ध क्रिया है। परन्तु इस काल यदि असह्य कोलाहल हो तो रसों का स्राव नहीं होता। अतः इस दशा में कोलाहल अवसादक वस्तु है।

'परीक्षा करने पर नाड़ी-संस्थान—तीन प्रकार का पाया गया है। नाड़ी-संस्थान का एकप्रकार वह है, जिस पर उत्तेजक वस्तुओं का शीघ्र प्रभाव होता है, अतः वह जरा-जरा-सी बात में क्षुभित हो जाया करता है। इसके विपरीत नाड़ी-संस्थान के अन्य प्रकार हैं, जो अवसादक वस्तुओं के शीघ्र वशीभूत हो जाते हैं। फलस्वरूप उसकी क्रियाएँ समय-समय पर मन्द हो जाया करती हैं। इन दो प्रकारों का मध्यवर्त्ती तृतीय प्रकार है, जो कि उभय विध वस्तुओं की उपस्थिति में भी शान्तिपूर्वक समतुलित होकर कर्म किया करता है। इस तीसरे प्रकार के प्राणियों के दो उप-प्रकार हैं। कुछ प्राणी ऐसे होते हैं जो सर्वदा सुस्त, मन्द तथा शान्त रहते हैं। दूसरे प्राणी ऐसे हैं जो सामान्यतया स्फूर्त्त (फूर्त्तीले) होते हैं; परन्तु एक ही स्थिति में रहने के कारण आश्चर्यजनक शीघ्रता से अवसन्न (सुस्त) हो जाते हैं। इनमें जो क्षोभ्यानाड़ी-संस्थानवाले पुरुष हैं, उनका स्वभाव क्षुब्ध होता है; जिसे 'कौलेरिक टेम्परामेण्ट' कहते हैं। यह पित्त-प्रकृति से साम्य रखता है। इसी प्रकार जो

अवसाद्य-नाड़ीसंस्थानवाले पुरुष हैं; वे अवसन्न स्वभाव के होते हैं, जिसे 'मेलानकोलिक टेम्परामेण्ट' कहते हैं, जो वात-प्रकृति से साम्य रखता है। मध्यवर्ती शान्त नाड़ी-संस्थान वाले को श्लैष्मिक (फ्लैग्मेटिक, Phlegmatic temperament) तथा मध्यवर्ती स्फूर्त्त नाड़ी-संस्थान वाले को समप्रकृति अर्थात् 'सैंग्वाइन टेम्परामेण्ट' कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सीजर, नैपोलियन आदि ऐतिहासिक पुरुषों के स्वभाव तथा उत्थान और पतन के कारण का विश्लेषण करते हुए उनके अन्तर्ग्रन्थियों के विकास और ह्रास का सुन्दर निरूपण पाया जाता है।

प्रकृतियों का बहुसंमत कारण

"मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में बहुसम्मत विचार यह है कि मनुष्य का स्वभाव विभिन्न अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्राव पर अवलम्बित है। न केवल शरीर के अवयवों का विविध विकास, रोग तथा आरोग्य, किन्तु मानस-प्रकृति का विकास भी इन्हीं अन्तर्ग्रन्थियों के स्राव से बनता वा बिगड़ता है। मनुष्यों में पाया जानेवाला शरीर का दैर्घ्य (लम्बाई) या वामनत्व, कृशता या स्थूलता, दौर्बल्य या सबलता; वर्णों का वैचित्र्य; केश, श्मश्रु और लोमों का वैविध्य; विविध प्रकार के स्वर, कामुकता या विरक्ति, प्रतिभा या मन्दबुद्धिता, स्मृति या मन्दस्मरण-शक्ति, दया या निर्दयता, पौरुष या स्त्रैणता (शारीरिक या मानसिक); क्लेशसहिष्णुता या क्लेशभीरुता, इनका तथा अन्यान्य शरीर या

मन के स्वरूपभेदों का कारण विविध अन्तर्ग्रन्थियाँ ही हैं।"
(Antiseptic Vol. 34. No. 1. P. 50)

प्रकृतियों के प्राचीनोक्त तथा आधुनिकोक्त कारण में साम्यता

तीनों धातुओं (वात-पित्त-कफ) के स्वरूप-निर्णय में संकेत किया जा चुका है, कि अन्तर्ग्रन्थियों के रस आयुर्वेद में वर्णित पित्त तथा कफ के ही भेद हैं तथा इनका प्रभाव वात पर यथायोग्य हुआ करता है। आयुर्वेद में मानव-प्रकृति का हेतु वात-पित्त तथा कफ कहा गया है और आधुनिक गवेषकों के मत से अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव ही मानव-स्वभाव के कारण हैं। अतः इनके वर्णन में स्पष्ट साम्यता दृष्टिगोचर होती है। यह विषय अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ और त्रिधातु वाले अध्याय में और भी स्पष्ट हो जायगा।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ और त्रिधातु

शरीर के समस्त व्यापार प्रधानतः वायु के अधीन अर्थात् वात-संस्थान के अधिष्ठातृत्व में होते हैं। शरीर के प्रत्यवयव से स्पर्श, गन्ध, शीत, उष्ण आदि की संज्ञाएँ नाड़ी-संस्थान के नियत केन्द्रों में पहुंचती हैं। नाड़ी-संस्थान में ही स्थित अपने-अपने केन्द्र से प्रत्येक अवयव को देश-कालानुरूप चेष्टा के लिये प्रेरणा मिलती है। परन्तु शरीर की क्रियाओं पर नाड़ी-संस्थान के अतिरिक्त कतिपय शरीरगत अन्य द्रव्यों का भी प्रभाव होता है; ऐसा अन्वेषण से पता चलता है। ऐसे द्रव्यों में कार्बनिकाम्ल वायु का भी उदाहरण दिया जा सकता है, जो श्वास-संस्थान को

उत्तेजित करता है। इसी प्रकार रञ्जक-पित्त का होमोग्लोविन ओषजन (Oxygen) का वहनकर अङ्गों को तृप्त करता है, जिससे प्रत्येक अङ्ग अपना नियत कर्म करता है। श्रम का कारण पेशियों में कर्मवश उत्पन्न तक्राम्ल का संचय है। श्रान्त अङ्ग को ओषजन जितना मिले, उतना ही शीघ्र श्रम दूर होता है। क्षत्रकण, जीवाणुसूदन आदि का कार्य भी हमें इसी ओर संकेत करता है। द्राक्ष-शर्करा, यूरिया तथा अन्त्रों में पाकवश उद्भूत विविध द्रव्यों का भी शरीरावयवों पर अपना-अपना हिताहित प्रभाव होता है। परन्तु इन सब से भिन्न जातीय द्रव्यों की भी एक श्रेणी है, जिनका शरीर पर सर्वदा प्रबल प्रभाव पड़ता है। यह द्रव्य शरीरस्थ प्रणाली-विहीन पिण्ड या ग्रन्थियों से निःसृत स्राव है, जो रक्त या रस में मिलकर अपना कार्य करता है।

शरीर में स्राव उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थियाँ दो प्रकार की हैं। एक प्रकार की ग्रन्थियाँ वे हैं, जिनका स्राव एकत्र होकर अपना प्रतिनियत कार्य करने के लिये एक वा अधिक प्रणाली (Duct) द्वारा दृष्ट स्थल पर पहुंचता है। जैसे—मुखकुहरस्थ लाला ग्रंथियाँ, आमाशयस्थ तथा ओजस्थ ग्रंथियाँ एवं स्तन्य ग्रंथियाँ इत्यादि। इन ग्रंथियों को 'बहिर्ग्रन्थि' (Exocrine glands) कहते हैं। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है। दूसरी वे ग्रंथियाँ हैं, जो प्रणाली-विहीन (Ductless glands) हैं, जिनसे स्रवित रस शीघ्र ही मलिन रक्त या रस में मिश्रित हो जाता और सिराओं तक रसायनियों में होकर सर्वाङ्ग में पहुंचा दिया जाता है। इन्हें

'अन्तःस्रावी ग्रन्थि' (Endocrine glands) कहते हैं। इनके स्राव को अन्तःस्राव (Internal secretion या Harmone) कहते हैं।

उक्त ग्रंथियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी ग्रंथियाँ हैं, जिन्हें उभयतःस्रावी ग्रंथि कहते हैं। इनमें दोनों धर्म पाये जाते हैं, अर्थात् ये दो प्रकार के स्राव उत्पन्न करती हैं। एक बहिर्ग्रन्थियों के स्राव के समान प्रणाली द्वारा कार्यस्थल पर पहुंचाया जाता है; दूसरा स्राव अन्तर्ग्रन्थियों के स्रावों के समान मलिन रक्त और रस द्वारा सर्वाङ्ग में प्रसृत होता है। यकृत्, अग्न्याशय, वृषणग्रंथियाँ तथा अन्तःफल, उभयतः स्रावी ग्रंथियों के उदाहरण हैं। इनमें यकृत् का बहिःस्राव याकृत् पित्त है तथा अन्तःस्राव अपर ओज (द्राक्षशर्करा) तथा यूरिया है। अग्न्याशय का बहिः स्राव आग्न्येय रस (जाठर रस या पाचक पित्त) है और अन्तः स्राव इनस्युलीन नामक द्रव्य है। इसी प्रकार वृषण तथा अन्तः-फल का बहिःस्राव शुक्र तथा स्त्रीबीज है और अन्तःस्राव एक द्रव्य है; जिनका वर्णन प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid gland)

यह छोटी-सी भार में तीस माशे की ग्रंथि है, जो ग्रीवा में स्थित होती है। इसके परस्पर सम्बद्ध हो शंकु-सदृश खण्ड होते हैं, एक-एक खण्ड क्लोम के प्रत्येक पार्श्व पर होता है। इसके स्राव को आधुनिक वैज्ञानिक 'थायरोक्सिन' (Thyroxine) कहते हैं। धातुपाक का तारतम्य और शरीर का विकास इस

ग्रन्थि के स्राव के अधीन है। इस ग्रंथि के स्राव में कमी होने से तथा इसके स्वरूप में विकृति होने से शरीर के विकास में कमी तथा विकृति एवं धातुपाक में कमी या विकृति होती है। शरीर के प्रत्येक-अङ्ग का प्रतिनियत कर्म—धातुपाक (Metabolism) याने प्रसाद के ग्रहण और मलों के त्याग पर अवलम्बित है। अतः इस धातुपाक के मन्द होने से शरीर और बुद्धि दोनों के कर्मों में विलक्षण शिथिलता आ जाती है। धातुपाक समुचित न होने से आहार द्वारा गृहीत ताप या शक्ति के उत्पादक द्रव्य स्नेह (मेद) के रूप में संचित होते हैं, नाड़ी मन्द हो जाती है, मुख और हाथ फूल जाते हैं, त्वचा के नीचे के भाग में विचित्र गड्ढे पड़ जाते हैं। त्वचा शुष्क हो जाती है, उस पर से छिलके उतरने लगते हैं। बाल गिर जाते हैं, जिससे रोगी का शरीर बड़ा दुर्भर और विरूप दीख पड़ता है। इस रोग को आधुनिक चिकित्सकों ने 'मिक्स इडिमा' (Myx-Oedema) कहा है।

शरीर का विकास इस ग्रन्थि के अधीन है। अतः बच्चों में यदि इसका स्राव अल्पगुण हो, तो उसका शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास नितान्त अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे बच्चे बावले (एक प्रकार के पागल) से हो जाते हैं। इन्हें आधुनिक विद्वानों ने क्रीटीन (Cretin) कहा है। चुल्लिका-ग्रंथि का सत्त्व पिलाने से बच्चे स्वस्थ होकर समाज के अन्य व्यक्ति के समान उपयोगी हो जाते हैं। अतः मन्दबुद्धि बालकों में चुल्लिका के विकार की सम्भावना करनी चाहिये। इस ग्रंथि के स्रावाधिक्य

से धातुपाक की तीव्रता होती है, जिससे शरीर और मन की क्रिया अति प्रबल हो जाती है। शरीर समस्त शक्ति (कार्बोहाइड्रेट और स्नेह) का उपयोग करके कृश हो जाता है। हृदय की गति तीव्र हो जाती है। स्वेद आता है, नाड़ी-संस्थान अतिक्षुभित रहता है। हाथों में कम्पन होता है। प्रति संक्रमित क्रियाएँ (Reflex action) बढ़ जाती हैं। आँखों के गोलक कभी-कभी बाहर उभर आते हैं। गलगण्ड (Goitre) चुल्लिका-ग्रंथि की वृद्धि का ही नाम है।

चुल्लिका-ग्रंथि की क्रिया उसके स्राव में स्थित तैल जातीय पदार्थ (आयोडिन) पर अवलम्बित है। दूध, अण्डे, प्याज, गाजर, हरे पत्र-शाक, फल—इनमें उक्त पदार्थ पर्याप्त मात्रा में होता है। आहार में सुधा (Calcium) का आधिक्य आँतों में जीवाणुओं का प्राबल्य, मेदस्विता, ए० सी० डी० जीवाणुओं की न्यूनता, इनके कारण भोज्य-द्रव्यों में उक्त द्रव्य के (आयोडिन) यथेष्ट होने पर भी अन्त्रकला द्वारा आचूषित नहीं होता।

परिचुल्लिका-ग्रंथि (Para thyroid gland)

ये चार छोटी-छोटी ग्रंथियाँ हैं, जो चुल्लिका के पीछे उसमें ग्रथित रहती हैं। जीवनीय 'डी' की उपस्थिति में अन्त्र-सुधा को ग्रहण कर सर्वाङ्ग में पहुंचाता है। सर्वाङ्ग में सुधा का यथावत् उपयोग परिचुल्लिका-ग्रंथि के स्राव पर अवलम्बित है। इन ग्रंथियों को शरीर से निकाल दिया जाय तो सुधा की न्यूनता से कम्प, वेष्टन, (पेशियों में ऐंठन) आक्षेप

के लक्षण होते हैं। इसकी अधिक मात्रा में सेवन से नाड़ी-संस्थान के अवसाद ; तन्द्रा, आदि चिह्न प्रकट होते हैं।

थायमस ग्रंथि (Thymus)

यह ग्रंथि ग्रीवा और उरोगुहा की सीमा पर स्थित होती है। इसका उर्ध्व शिखर चुल्लिका को छूता रहता है। यह बालक की उत्पत्ति के अनन्तर शीघ्र ही अपना पूर्ण आकार प्राप्त कर लेती है। तारुण्य आने के साथ-साथ यह क्षीण होने लगती है और प्रायः लुप्त हो जाती है। इस ग्रंथि का कार्य स्त्री-पुरुष दोनों में जननेन्द्रियों (वृषण और अन्तःफल) के विकास को प्रतिरुद्ध करना है। जननेन्द्रियों के विकास पर इसके शासन का यह फल होता है कि उतने काल में अस्थियों का विकास पूर्ण हो पाता है। पण्डीकरण (वृषण-ग्रंथियाँ निकाल देने) में यह ग्रंथि क्षीण नहीं होती, आजीवन बनी रहती है। विपरीत, इस ग्रंथि के निकाल देने से जननावयवों का विनाश शीघ्र होता है।

वृषण

इसके बहिःस्राव शुक्र का वर्णन यहां अभिप्रेत नहीं। इसका कार्य केवल गर्भोत्पत्ति है। वृषणों के अन्तःस्राव का कर्म, इन्हें शस्त्र-द्वारा निकाल देने के बाद विदित होता है। जवानी आने के पूर्व यदि यह (शस्त्रकर्म) किया जाय तो शुक्राशय तथा वस्तिसिर क्रमशः क्षीण होकर लुप्त हो जाते हैं। श्मश्रु का उदय, स्वर का भारीपन, आदि जवानी के लक्षण प्रकट

नहीं होते। शरीर लिङ्ग की दृष्टि से बाल रहता है। शेष शरीर का विकास नहीं रुकता। प्रत्युत मेदस्विता और अति अस्थिवृद्धि के लक्षण पाये जाते हैं। शुक्रवाहिनियों को बांध देने से वृषण-यन्थियों के स्रोत क्षीण हो जाते हैं, पर जवानी के शेष चिह्न यथावत् प्रकट होते हैं। वृषणों के इसी अन्तःस्राव की आयुर्वेद में शुक्र का अन्तःसार, मल, उपधातु और स्नेह संज्ञायें हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने षण्डीकरण के यथोक्त प्रभाव को प्रत्यक्ष किया था जैसे—"आकृष्टाण्डकोषस्यपुंसः श्मश्रुपाताच्छ्मश्रु शुक्रमल इत्येके।" सु० सू० १५-१० पर—डल्हन। यहाँ तथा अन्यत्र भी श्मश्रुको शुक्र का मल कहा है। वह वास्तव में अपने कारण भूत शुक्र के मल (वृषणों के अन्तःस्राव) के साथ अभेद-सा है।

अन्तःफूल, बीजपुट तथा बीजपुटाकिण

अन्तःफल (Ovary) का बहिःस्राव स्त्रीबीज है, जिसका कार्य गर्भोत्पत्ति है। स्त्री-बीजों का एक बुद्बुदाकार आवरण होता है, जिसे 'बीज पुर (Graafian follicles) कहते हैं, (स्त्रीबीज जब पक हो चुकता है, तब बीजपुट स्वभावतः फट जाता है और स्त्रीबीज उसमें से च्युत हो जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्र हुआ बीज (स्त्रीबीज) बीजवाहिनी द्वारा गर्भाशय की ओर जाता है।) उक्त बीजपुट के विकास से 'बीज पुट किण' (Corpus lecturn) नामक ग्रंथि की रचना होती है, जिसका अन्तःस्राव गर्भाशय में गर्भाधारण के तथा स्तनों में दुग्ध स्राव के अनुकूल परिवर्त्तन उत्पन्न करता है। अन्तःफूल निकाल देने से स्त्री के

आकार-प्रकार में विशेष प्रभेद नहीं आता, केवल मेदोवृद्धि सम्भव है। तारुण्य के अनन्तर अन्तःफूल निष्कासन से रजोधर्म का लोप हो जाता है। स्तन तथा अन्य जनन-अवयव कुछ कृश हो जाते हैं; गर्भाशय क्षीण हो जाता है।

अपरा-(Placenta)

इसका भी अन्तःस्राव होता है; जो स्तन-ग्रंथियों में दुग्ध-क्षरण को उत्तेजित करता है। बीज पुटकिण का स्राव केवल स्तनों को दुग्धस्राव के लिये पीन (स्थूल) करता है।

अग्न्याशय-(Pancreas)

यह उभयतः स्रावी ग्रन्थि है। बहिःस्राव जाठर पाचक-पित्त है, जिसका वर्णन पहले हो चुका है। अन्तःस्राव का नाम 'इन्सुलीन' है। इन्सुलीन कार्बोहाइड्रेटों (शर्कराजन्य पदार्थों) के धातुपाक का प्रवर्त्तक है। इसके द्वारा स्नेहों का धातु पाक भी सुनियन्त्रित रूप से होता है। अवयव मात्र को विशेषतः मांस-भाग को अपना-अपना कार्य करने के लिये ताप और शक्ति के उत्पादक द्रव्यों की अपेक्षा होती है। इन द्रव्यों का अन्त में द्राक्ष-शर्करा में परिवर्त्तन होता है। अवशिष्ट तापोत्पादक द्रव्य ग्लाइकोजनके रूपमें यकृत् और पेशियों में अथवा मेद के रूपमें यथोक्त स्थानों पर सञ्चित होता है। अग्न्याश्रय के अन्तःस्राव 'इन्सुलीन' का कार्य धातुओं को ओषजन के साथ मिलकर द्राक्ष-शर्करा के उपयोग के लिये तथा यकृत् और मांस-पेशियों को ग्लाइकोजन के रूप में शक्ति के संग्रह के लिये प्रेरित करना है।

स्नेहों के धातुपाक के लिये कार्बोहाइड्रेटों के पाक की सम्पूर्णता आवश्यक है। इन्सुलीन स्वस्थ-दशा में कार्बोहाइड्रेट के पाक को पूर्ण करता हुआ परम्परया स्नेहों के पाक को भी पूर्णता तक पहुंचाता है। प्रमाण एवं गुण की दृष्टि से इन्सुलीन के हीन होने पर प्रोटीनों का अपने प्रमुख कार्य—शरीर की पुष्टि और दैनिक क्षतिपूर्ति—में उपयोग नहीं होता। ताप और शक्ति के उत्पादनार्थ शरीर उन्हें द्राक्ष-शर्करा के रूपमें परिणत कर देता है। इस प्रकार प्रोटीन का धातुपाक भी परम्परया 'इन्सुलीन' पर निर्भर करता है।

अग्न्याशय के विकारों में इन्सुलीन न्यून मात्रा में स्रुत होता है। परिणाम में धातु (अङ्ग-प्रत्यंग) द्राक्षशर्करा के उपयोग में अक्षम हो जाते हैं; जिससे ग्लाइकोजन (द्राक्षशर्करा का पूर्व रूप) मल के रूपमें मूत्रमार्ग से निकलने लगता है। इस रोग को 'मधुमेह' (Glycosuria or Diabetes mellitus) कहते हैं। और भी यकृत्, पेशियों तथा अन्य शरीरावयवों में ग्लाइकोजन के संचय की शक्ति अल्प हो जाने से रक्त में ग्लाइकोजन की मात्रा विशेष हो जाती है। इस रोग को 'मधुरक्त' (Glycaemia) कहते हैं। शर्करा को निकालने के हेतु मूत्र का प्रमाण भी अत्यधिक हो जाता है और मधुमेह के साथ 'उदकमेह' (Polyuria) भी हो जाता है। मूत्र के आधिक्य के कारण तृषा और शर्करा के नाश के कारण उसकी मांग के रूपमें भूख बहुत बढ़ जाती है। सूचीबस्ति द्वारा इन्सुलीन के प्रयोग से ये विकार दूर हो जाते हैं।

अग्न्याशय को 'इन्सुलीन' उत्पन्न करने में वक्ष्यमाण अधिवृक्कों के स्राव 'एड्रीनलीन' से प्रेरणा प्राप्त होती है।

अधिवृक्क-ग्रन्थि—(Suprarenal gland)

ये त्रिकोणाकार ग्रंथियाँ हैं। प्रत्येक वृक्क पर एक-एक होती है। इसीसे इनका नाम अधिवृक्क है। प्रत्येक ग्रंथि में दो भाग होते हैं—एक बल्क (Cortex) और दूसरा मध्य (Medulla)। बल्क का कार्य पुरुषों में वृषण-ग्रंथियों तथा स्त्रियों में अन्तःफूल को विकसित करना है। इस पर यदि अर्बुद हो जाय, तो तारुण्य के पूर्व ही लैङ्गिक विकास हो जाता है तथा स्त्रियों में पुरुषत्व के चिह्न उदित होते हैं। मध्य के स्राव का नाम 'एड्रीनलीन' है। इसका प्रधान कार्य शरीर को पेशियों से होनेवाला कर्म (Muscular activities) करने के लिये तैयार करना है। इसे सूची द्वारा शरीर में प्रवेश कराने के परिणाम निम्न होते हैं—

(१) विशेषतः कोष्ठ तथा त्वचा की धमनियों का संकोच और उनके कारण 'रक्तचाप' (Blood pressure) में वृद्धि।

(२) हृदय तथा पेशियों की रक्तवहाओं का विस्तार, जिससे उनमें रक्त का प्रमाण अधिक होना ; हृदय के स्फुरण में वृद्धि।

(३) महास्रोतस् की अपकर्षणी गति की मन्दता।

(४) आमाशय तथा अन्त्रों के ओष्ठवृन्त का दृढ़-बन्द होना फलतः अन्न की गति में अवरोध।

(५) क्लोम की शाखाओं का शिथिल होना ; फलतः श्वास-क्रिया में सुविधा (कठिनता हो तो दूर होना)।

(६) पुतली का विस्तृत होना।

(७) गर्भाशय की शिथिलता।

(८) ग्लाइकोजनःका द्राक्षशर्करा में परिणमन ; फलस्वरूप रक्त तथा मूत्र में उसकी उपस्थिति।

शरीर में सामान्य दशा में 'एड्रीनलीन' का स्राव नहीं होता। केवल भय और क्रोध के आवेशों के समय, पलायन, ताड़न आदि कर्मों को तत्काल सम्पन्न करने के लिये, चोट लग जाय तो त्वचा की धमनियों के संकोच के द्वारा रक्तस्राव को रोकने के लिये इसका स्राव होता है। महास्रोतस् की वाहिनियों के संकोच और अपकर्षण की मन्दता के कारण उसके पाचन-सम्बन्धी व्यापार रुक जाते वा अति मन्द हो जाते हैं। पेशियों में रक्त के अधिक तथा द्राक्ष-शर्करा के रसविशेष निर्माण के कारण पलायन आदि मांसीय कार्य सुगम हो जाते हैं।

शस्त्र-कर्म द्वारा अधिवृक्क निकाल देने से पशुओं की तत्काल मृत्यु हो जाती है। इनके विकार से 'एडीसन्स डिसीज' नाम का रोग हो जाता है ; जिसमें पेशियों की दुर्बलता, शरीर की क्षीणता, रक्तचाप की मन्दता, और नाड़ी-संस्थान का शैथिल्य आदि लक्षण होते हैं। मध्य स्वतन्त्रनाड़ीसंस्थान की मनोवह या चेष्टावह (Motor nerves) के सिरे पर एड्रीनलीन से मिलता-जुलता स्राव हुआ करता है।

पोषणिका-ग्रंथि—(Pituitary gland)

यह शिर के अधोभाग में जतुकास्थि (Sphenoid bone) के गर्त्त में स्थित होती है। इसके मुख्य दो खण्ड होते हैं। अग्र-खण्ड (Anterior lobe) और दूसरा पश्चिम खण्ड (Posterior lobe)।

पोषणिका के पश्चिम खण्ड के कार्य

(१) रक्त में द्राक्षशर्करा की वृद्धि करना। इसकी विकृति में शरीर में मेद का अतिसंचय हो जाता है।

(२) धमनियों तथा केशिकाओं को संकुचित कर ऐड्रीनलीन के समान रक्तचाप को बढ़ाना।

(३) मूत्र का प्रमाण न्यून करना; शरीर में जल की मात्रा नियमित रखना। उदक मेह में इसका सत्त्व उपयोगी है।

(४) अंत्र, मूत्राशय, स्तनग्रंथि आदि में स्थित स्वतन्त्र मांस सूत्रों को संकुचित करना।

(५) गर्भाशय के मांस-सूत्रों पर इसका सङ्कोचक प्रभाव विशेष करके होता है। अतः प्रसव की क्रिया में सहायक के रूप में प्रसव के आरम्भ में 'पिच्युइट्रीन' नामक इसका सत्त्व प्रायः सूची-द्वारा दिया जाता है।

(६) उभयचर (जल-स्थल-चर मेढ़क आदि) जन्तुओं में त्वचा का वर्ण कृष्ण बना देना।

उक्त प्रभाव पश्चिम खण्ड का सत्त्व देने से प्रकट होते हैं।

प्रथम, तृतीय, तथा पञ्चम प्रभाव कुछ-न-कुछ प्रकृत्या भी शरीर में होते हैं।

पोषणिका के अग्रखण्ड के कर्म

अग्रखण्ड शरीर के लिये अनिवार्य है। यह भिन्न-भिन्न प्रभावी स्राव उत्पन्न करता है, जो निम्न प्रकार हैं —

१—शरीर का विकास करनेवाला स्राव—यह तथा वक्ष्यमाण जननेद्रियों का विकास करनेवाला स्राव पोषणिका के सभी स्रावों में प्रमुख हैं। यह व्यक्ति के अपने शरीर में अणुओं की वृद्धि द्वारा शरीर का विकास करता है। अनन्तर काल में, यही स्राव व्यक्ति के अपने शरीर में स्थित अणुओं के अतिरिक्त, सन्तान-रूपी उसके अपने ही शरीर के अणुओं की वृद्धि और विकास भी सिद्ध करता है। सन्तान में यह शुक्र द्वारा जाता है। अस्थियों के विकास पर इस स्राव का प्रभाव विशेष लक्षित होता है। इसके अतिक्षरण से होनेवाली अस्थिवृद्धि से दनुज भाव तथा प्रान्त-वृद्धि (Gigantism & Acromegaly) नामक विकृति होती है। इसका स्राव न्यून होनेपर परिमाण में पाये जानेवाले वामनत्व आदि होते हैं। इस स्राव की सूचीवस्ति द्वारा चूहों के शरीर का विस्तार—असाधारण हुआ पाया गया है।

२—जननेन्द्रियों का विकास करनेवाला स्राव—शस्त्र-कर्म से अग्रखण्ड के निकाल देने से वृषण, अन्तःफल तथा गर्भाशय शीघ्र ही क्षीण (Atrophied) हो जाते हैं। सारे शरीर पर मेद की वृद्धि हो जाती है। इस स्राव के अभाव में जननेन्द्रियों के स्रावों की

उत्पत्ति असम्भव है। सम्भवतः, प्रथम स्राव द्वारा शरीर का सम्पूर्ण विकास होने तक इस स्राव की क्रिया और जननेन्द्रियों का विकास स्थगित रहता है।

(३) बीज पुटणिका (Corpus luteuno) का विकास करनेवाला स्राव—रजोधर्म और गर्भधारण के लिये यह आवश्यक है। गर्भवतियों के मूत्र से यह निकलता है। स्त्री वस्तुतः गर्भवती हो तो किशोर चूहियों में उसके प्रातःकालिक मूत्र की सूचीवस्ति से उनके अन्तःफल में रजोधर्म-सम्बन्धी परिवर्त्तन उत्पन्न हो जाते हैं। गर्भस्थिति की परीक्षा इस विधि से की जाती है। कई निष्णातों के मत से रजोधर्म तथा गर्भाशय में गर्भधारणानुकूल परिवर्त्तन करनेवाले दो पृथक् स्राव हैं।

(४) जननेन्द्रियों का विकास करनेवाला दूसरा स्राव—पहले स्राव से इसमें यह भेद है कि इसे मुख द्वारा देने से भी फल होता है, पहले के देने से नहीं।

(५) चुल्लिका-ग्रन्थि की क्रिया बढ़ानेवाला स्राव।

(६) अधिवृक्क की क्रिया बढ़ानेवाला स्राव।

(७) स्तनग्रन्थियों के दुग्धक्षरण को उत्तेजित करनेवाला स्राव।

(८) अग्न्याशय और परिचुल्लिकाग्रन्थि की क्रिया बढ़ानेवाला स्राव।

(९) कार्बोहाइड्रेट आदि धातुपाक का नियामक स्राव।

(१०) मूत्र में द्राक्षाशर्करा मधुमेह तथा कीटोन (Ketone) निकलने से रोकनेवाला स्राव।

(११) गैसों (दूषित वायुओं) की उत्पत्ति रोकनेवाला स्राव।

(१२) रजोधर्म में रक्तस्राव का आरम्भक स्राव—पोषणिका का स्रावहीन (न्यून या अल्प गुण) हो तो बालक की अस्थि, मानस और लिङ्ग का विकास रुक जाता है। पोषणिका के उक्त प्रभाव को देखकर 'लैङ्गडनब्राउन' ने इसे ठीक ही अन्तर्ग्रन्थिख्य संगीतशाला का सूत्रधार (Band master of the Endocrine Orchestra) कहा है। पोषणिका के दोनों खण्डों में भी पश्चिमखण्ड अन्य ग्रन्थियों के समान अग्रखण्ड के अधीन होता है।

उपर्युक्त अन्तर्ग्रन्थियों के स्रावों पर तथा उनके कर्मों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि ये विविध ग्रन्थियाँ कफ और पित्त वर्ग की हैं। इनमें चुल्लिका, परिचुल्लिका, थायमस, वृषण, अन्तःफल तथा अपरा के अन्तःस्राव शरीर के विकास तथा वृद्धि पर विशेष कर्मकर होने से कफवर्ग के (या जातीय) प्रतीत होते हैं और अग्न्याशय तथा अधिवृक्क अन्तःस्राव का कर्म पित्त के पाक, परिवर्त्तन, भय, शौर्य, क्रोध आदि कर्म से साम्य रखने के कारण पित्तवर्ग या जातीयप्रतीत होते हैं। इसी प्रकार पोषणिका ग्रन्थि का-कर्म ओज के कार्यों से साम्य रखने से ओज, जो प्रकृत-श्लेष्म का ही विशिष्ट रूप है, उसी (कफ) के अन्दर ही आता है। अगले अध्याय में वातादि के विशिष्ट वर्णन में यह और भी स्पष्ट कर दिया जायगा।

चुल्लिका प्रभृति ग्रन्थियों के कर्मों पर तथा शरीर से होनेवाली अन्य क्रियाओं पर पोषणिका का प्रभाव देखने से कुछ लोग पोषणिका के स्राव को ही 'पर ओज' निर्देश किया है। परन्तु ऐसा मानने से अव्याप्ति दोष आ जाता है। 'ओज' का वर्णन इतना व्यापक है कि उसे आधुनिक शरीर-विज्ञान के वर्णन से पूरा सामञ्जस्य बैठाना कठिन हो जाता है। ओज का स्थान 'हृदय' कहा गया है और ओज को शरीर के समस्त धातुओं में व्याप्त भी कहा है। 'ओज के अभाव में धातु अपनी साम्यावस्था में भी कर्मकर नहीं होते', इत्यादि वर्णनों से ओज का विशिष्ट स्थान हृदय और सामान्य स्थानशरीरगत सम्पूर्ण धातु हो जाता है, जिससे पोषणिका का मेल नहीं खाता।

पांचवां अध्याय

प्रकृत पित्त के कार्यों का वर्णन

"रागपक्तितेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्नि कर्मणाऽनुग्रहं करोति।" सु० सू० १५

"तच्चादृष्ट हेतुकेन विशेषण × × × चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोष रसमूत्रपुरीषाणि; तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणानुग्रहं करोति; तस्मिन्पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा। यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोग्निरिति संज्ञा स रसस्य रागकृदुक्तः, यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथ साधन कृदुक्तः, यत् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन् आलोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूपग्रहणाधिकृतः; यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः॥" सु० सू० २१

"बुद्धि मेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थ साधनात्।
साधकं हृद्गतं पित्तं॥" अ० हृ० सू० १२

"अग्निरवे शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति; तद्यथा—पक्तिमपक्तिं, दर्शनमदर्शनं, मात्रामात्रत्वमूष्मणः,

प्रकृति-विकृतिवर्णौ, शौर्य-भयं-क्रोधं-हर्ष-मोहं-प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वंद्वानि इति।" च० सू० १२

"पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते।
तच्च प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून्॥"

च० सू० १७

"दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥"

च० सू० १८

"स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः॥"

अ० हृ० सू० ११

"अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिको मतः।
तन्मूलास्ते हि तद् वृद्धिः क्षयवृद्धि-क्षयात्मकाः॥"

च० चि० १५

उपर्युक्त सूत्रों तथा श्लोकों में प्रकृतपित्त का कार्य, राग, पक्ति, तेज, मेधा, शरीर में उष्णता कायम रखना, भुक्तान्न को पचाकर उन्हें दोष, रस, मूत्र, पुरीषादि, प्रसाद तथा किट्ट भाग में विवेचित करना, मनोरथों का साधक, रूप का ग्रहण, अभ्यंग परिषेक आदि त्वचा पर किये गए द्रवों को पचाकर शोषित करना, छाया का प्रकाशक, बुद्धि, मेधा, अभिमान, आदि अभिप्रेतार्थ का साधन,

शौर्य, भय, क्रोध, हर्ष, मोह, प्रसाद इत्यादि द्वन्द्वों का साधन, प्रकृत तथा विकृत वर्ण को उत्पन्न करना, क्षुधा, तृष्णा, शरीर में मृदुता प्रभा इत्यादि को उत्पन्न करना कहा गया है। शरीर की वृद्धि और क्षय इसके ही अधीन रहते हैं। इन पित्तों का इनके कर्मों के अनुसार वर्गीकरण किया गया है, जिनके निम्न प्रकार कर्म हैं —

१. पाचक पित्त का कार्य—पित्त का प्रधान कर्म पाक, इस पाचक पित्त द्वारा सम्पन्न होता है। पाक कर्म पाचकस्रावगत पित्त तथा धात्वग्नियों पर आश्रित है। पाचक-पित्त को ही पाचकाग्नि कहते हैं। इसका अन्य नाम जाठराग्नि तथा कायाग्नि भी है। प्राणि-शरीर के अन्दर यह अग्नि या पित्त दो आश्रयों में आश्रित होकर रहता है। प्रथम-पाचक-स्रावों को स्रुत करने-वाले पिण्डों में ; जैसे लालाग्रंथि या पिण्ड, आमाशयिक पिण्ड, आन्त्रगत पाचक पिण्ड, अग्न्याशयगत पिण्ड, यकृत का पित्ताशय इत्यादि। दूसरा रसादि धातुओं के अन्दर, जिसे धात्वग्नि कहते हैं (Intercellular Enzymes)। अतः इन्हीं अग्नियों या पित्तों से आहार और आहार-जन्य धातुओं के पाक होने से शरीर का स्वाभाविक ताप या उष्मा उत्पन्न होता है और शरीर का वृद्धि-क्षय उक्त पाक के अधीन रहता है। इनमें से अग्न्याशय-आमाशय का पाचक पित्त सर्वाधिक पाक कर्म करने से प्रधान पाचक-पित्त है। पाचक पित्त के कर्म के अतिरिक्त शेष पित्तों को बल देने का कार्य अग्न्याशयगत पाचक पिण्ड के अन्तःस्राव में

(इन्सुलीन) अधिक दृष्टिगोचर होता है। उसका बहिःस्राव भी समस्त पाचक पित्तों में मुख्य है ; क्योंकि उसके अन्दर अन्न के प्रायः सभी घटकों को पचानेवाले तत्त्व होते हैं। अतः आयुर्वेद का पाचक पित्त वहीं प्रतीत होता है। पहले इस बात का संकेत किया जा चुका है कि उक्त अग्नाशय अपने अन्तःस्राव इन्सुलीन को शरीर में सर्वत्र भेजकर शर्कराजन्य (Carbohydrates) अन्न घटकों और उनके द्वारा स्नेहों और प्रोटीनों का परिपाक किया करता है। आयुर्वेद के संहिता-ग्रंथों में पाचक पित्त का स्थान-निर्देश भी (आम पक्वाशय मध्य) इसका समर्थन करता है।

धात्वाग्नि

जिस प्रकार अग्निरस (अग्न्याशय का बहिःस्राव) या महास्रोतस् के अन्य पाचक रसों में अन्न के विविध घटकों—कार्बोहाइड्रेटों, प्रोटीनों, आदि के विघटन और संघटन करनेवाले सूक्ष्म (पाचक) रस (Enzymes) होते हैं, वैसे ही शरीर के प्रत्येक-अणु (धातु) में होते हैं। इन रसों में कोई प्रोटीन का संघटन-विघटन करता है, कोई कार्बोहाइड्रेट का, और कोई स्नेह-आदिकों का, इत्यादि। इस क्रिया का नाम 'अणुगत धातुपाक' (Cell-metabolism) है। क्रियाशारीरविज्ञों ने देहाणुओं के जीवित होने के जो लक्षण कहे हैं, उनमें धातुपाक भी एक है। शरीर के समस्त अणुओं का मिलित धातुपाक 'शारीर धातुपाक' (Body meta

bolism) कहलाता है। प्रत्येक देहाणु में धातुपाक का मूल प्रवर्त्तक अग्न्याशय का अन्तःस्राव इन्सुलीन है[1]।

आयुर्वेद में पित्त के विशेष स्थान निर्दिष्ट करते हुए भी उसे सर्वशरीर-चर कहा गया है। देहाणुओं में उक्त प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, आदि के धातुपाक के कारणभूत अणुगत सूक्ष्म रस ही आयुर्वेदोक्त भौतिकाग्नि है। वे ही, जैसा कि ऊपर कहा गया है धात्वग्नि हैं। अन्नपाचक-अग्नि (अग्न्याशय का बहिःस्राव) आहार-द्रव्यों को सूक्ष्म और ग्रहण योग्य बना देता है, अतः उसे सब अग्नियों में प्रधान कहा गया है। उसके अभाव में धात्वग्नि अकिंचित्कर हैं। अन्नपाचक-अग्नि तथा धात्वग्नि पृथक् होते हुए भी उनका कर्म समान होने से धात्वग्नियों को (अन्नपाचक) मुख्य अग्नि का ही अंश कहा गया है।

लालारस का टायलीन, आमाशय रस, आंत्ररस, यकृत्पित्त, भी पाचन में सहायक होने से पाचक पित्त के अन्तर्गत हैं। आयुर्वेद में पाचक पित्त का कार्य 'मूत्र-निर्माण' भी कहा गया है। यकृत् पाचक पित्तवर्गीय है और वह मूत्र के घन अंश का विवेचक है, यह आधुनिक विज्ञान-सम्मत है।

१—The islets of the Pancreas secrete a hormone known as insulin which Controles carbohydrate metabolism, and through it fatmetabolism also. This, it does by enabling the tissue to use Glucose as a source of energy, and the liver and muscles to store Glucose as Gly cogen. By so doing the conversion of Protic to Glucose, which occur in diabets, is made necessary, (Homer Physiology).

तीन अवस्था पाक

"अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
मधुरात् प्राक् कफोद्भावात् फेनभूत उदीर्यते ।।"

च० चि० १५

भुक्तान्न का पाक क्रमशः तीन प्रकार का होता है। प्रथम मधुर पाक, फिर अम्लपाक, पश्चात् कटुपाक। इन तीनों पाकों का नाम 'त्रिधा अवस्थापाक' है। जाठराग्नि की क्रिया से भुक्त द्रव्यों का परिपाक होकर अन्त में रस का जो प्रादुर्भाव होता है, उसे 'विपाक' या 'निष्ठापाक' कहते हैं। प्रस्तुत अवस्थापाक उनसे भिन्न है। महास्रोतस् में स्थित अन्न पाचक रसों की क्रिया से अनेक अवस्था को प्राप्त होता है। इन अवस्थाओं में उनका जो रस होता है, उसका 'अवस्थापाक' से निर्देश करते हैं। निष्ठापाक तो अन्न पचकर रसरूप में परिणत होने के पश्चात्, रस और मल विभाग के समय होता है।

मुख में मधुरपाक

महास्रोतस् के हार्दिक द्वार से उर्ध्वभाग में मधुर रस होता है, जिससे भोजन खाते ही सर्वप्रथम आहार का मधुर-अवस्था-पाक होता है। इससे शरीर के बलवर्द्धक कफ की वृद्धि होती है। आधुनिक शरीर-क्रिया-विज्ञान में इसे और स्पष्ट कर लिखा गया है। भुक्त पदार्थ का लगभग पौन अंश ($\frac{3}{4}$ भाग) शर्कराजन्य (Carbohydrate) अन्नघटक से परिपूर्ण होता है। अतः इनके पाचन

की व्यवस्था हमारे शरीर में सर्वाधिक प्रकृति ने किया है। प्रोटीन और स्नेहांशों का पाक आमाशय तथा आँतों में भुक्तान्न के जाने पर होता है। शर्कराजन्य (कार्बोहाइड्रेट) का पाक मुख से ही प्रारम्भ हो जाता है। कार्बोहाइड्रेट का उभय भेद—पिष्टसार (Starch) और शर्करा अन्त में द्राक्षा-शर्करा (Glucose) में परिणत हो जाते हैं। मुख में लालागत पाचकपित्त (टाइलीन) से कार्बोहाइड्रेट का पाचन होता है। उक्त पाचक पित्त (टाइलीन) से कार्बोहाइड्रेट विशेष प्रकार के शर्कराओं में परिणत हो जाता है। रोटी अकेली या थोड़ी घी के साथ खाई जाय और उसे पर्य्याप्त काल तक चबाई जाय, तो उसमें एक प्रकार का मिठास अनुभव होता है। यह मिठास उक्त पाचक पित्त द्वारा परिपाचित तथा परिवर्तित कार्बोहाइड्रेट के कारण ही होता है। इस अवस्था में परिणत कार्बोहाइड्रेट को माल्टोन या डेक्स्ट्रीन (यव-शर्करा) कहते हैं। यह एक प्रकार से शर्करा का पूर्वरूप है, जो आगे चलकर अन्य पाचक पित्तों के परिपाक के बाद शर्करा के रूप में परिणत हो जाता है। यह रस में मधुर होता है, अतः आयुर्वेद में इस अवस्था-पाक को मधुर-अवस्था-पाक तथा प्रथम-अवस्था-पाक कहते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त लालागत पाचकपित्त (टाइलिन) की क्रिया उबले हुए पिष्टसार (Starch) पर सम्यक् प्रकार से होती है। 'माल्टोज' एक प्रकार की शर्करा ही है, पर डेक्स्ट्रीन का रासायनिक संगठन माल्टोज से भिन्न है। उक्त लालागत पाचक-पित्त की क्रिया में

लाला के अन्य घटक सहायक होते हैं। जैसे लालागत बोधक कफ उसे छिन्न कर देता है, जिससे भोजन को चबाने में सुविधा होती है और चर्वित अन्न में लालागत पित्त का पूर्णरूप से प्रवेश हो जाता है। यह लाला मुखगत ६ लाला-ग्रन्थियों के स्राव से निर्मित होती है।

लाला ग्रंथियां

लालास्रावी ग्रंथियाँ—तीन-तीन मुख के दोनों पार्श्वों में स्थित हैं। इनमें सबसे बड़ी कर्णमूलिक-ग्रन्थि (Parotid) दोनों ओर कान के नीचे तथा सामने की ओर होती है। इस ग्रन्थि की वाहिनी, गाल में होकर ऊपर के जबड़े के द्वितीय चर्वणक (Mollar tooth) दाँत के सामने मुख में खुलती है। दूसरी लालाग्रन्थि का नाम 'हन्वधरीय' (Submaxellary) है, जो छोटे अखरोट के समप्रमाण की, निचले जबड़े के दोनों ओर एक-एक होती है। इनकी वाहिनी जिह्वा के कोण के नीचे सीवनी (जिह्वा के नीचे स्थित वह झिल्ली, जो जिह्वा को मुख के तल से जोड़ती है) के दोनों ओर खुलती है और दर्पण की सहायता से देखी जा सकती है। तृतीय लालाग्रंथि 'जिह्वाधरीय' (Sublingual) प्रमाण में बादाम से छोटी उक्त सीवनी के दोनों पार्श्वों पर एक-एक होती है। जिह्वा और निचले दाँतों के मध्य में स्थित उभार इसी ग्रन्थि के होते हैं। इनके मुख अनेक हैं और कुछ हन्वधरीय ग्रन्थि के साथ एक होकर और शेष स्वतन्त्र मुख के तल में खुलते हैं।

उक्त ग्रन्थियों का नाड़ी द्वारा मस्तिष्क से सम्बन्ध रहता है। जब भोजन को देखने से नाड़ियों में उत्तेजना पैदा होती है, तब ये ग्रन्थियाँ तेजी से काम करने लगती हैं और तब लाला का निर्माण अधिक होने लगता है। यह एक साधारण अनुभव है कि उत्तम स्वादिष्ट भोजन को देखकर मुख थूक (लाला) से भर जाता है। स्वादिष्ट भोजन को देखने तथा उसके गन्ध से ये नाड़ियाँ उत्तेजित हो जाती हैं, जिससे ग्रन्थियों का कार्य तेजी से होने लगता है।

च० चि० १

द्वितीय अवस्थापाक

"परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥"

च० चि० १५

"नाभिहृदयमध्ये च रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः।
स्वभावेन मनुष्याणां ततः पित्तं विवर्धते ॥"

—चक्रपाणि

नाभि और हृदय के मध्य (आमाशय) में अम्लरस होता है। अतः मुख में मधुर पाक के पश्चात् आमाशय में भोजन के पहुंचने पर अम्ल पाक संज्ञक द्वितीय-अवस्थापाक प्रारम्भ होता है। यह अम्लपाक आगे (क्षुद्रान्त्रों में) पाचक पित्त की उत्पत्ति में हेतु होता है। आधुनिक मत से आमाशय के पाचक रस में दो प्रकार का द्रव्य होता है—एक 'पेप्सीन' और दूसरा लवणाम्ल

(Hydrochloric acid)। लवणाम्ल की उपस्थिति से आमाशय रस अम्ल होता है।

आमाशय रस का कार्य

(१) अन्नपान के साथ गए जीवाणुओं का नाश। यह कार्य लवणाम्ल का है, जो एक उत्तम जीवाणु नाशक है। अन्नपान द्वारा होनेवाले प्रसिद्ध जीवाणु-जन्य रोग विसूचिका, अतिसार, आमातिसार, आध्मान, अन्त्रज्वर, रक्तदोष, कृमि, इत्यादि हैं।

(२) आमाशय रस का दूसरा कार्य शर्कराओं को पचाना है। यह कार्य भी लवणाम्ल से सिद्ध होता है।

(३) यह थोड़ा-बहुत स्नेहों को भी पचाता है। यह तद्गत लायपेज नामक पाचक तत्त्व के कारण होते हैं।

(४) यह दूध को जमाता है। जमने पर दूध के प्रोटीन आदि द्रव्य विश्लिष्ट हो जाते हैं और उसी प्रकार विभिन्न पाचक रसों की क्रिया से पच जाते हैं; जैसे—इतर भोज्यगत प्रोटीन आदि। यह कार्य आमाशय रसगत पाचक-रसके दधिभावक (Renew) तत्त्व से होता है।

(५) आमाशय रस का पञ्चम और प्रधानतम कार्य प्रोटीन को पचाना है। इस कार्य में पेप्सीन और लवणाम्ल दोनों भाग लेते हैं। आमाशय में प्रोटीन का पाक पूर्ण नहीं होता। इसकी समाप्ति क्षुद्रान्त्र में जाकर होती है। पेप्सीन लवणाम्ल के साथ मिलकर भोजन के आमिषांश (प्रोटीन) को पचाकर पेप्टोन में परिवर्त्तित कर देता है।

प्रोटीन प्रथम आम्लिक मेरा प्रोटीन में पश्चात् प्रोटीओज और उसके बाद पेप्टोन में परिवर्त्तित होता है। यह रस में अम्ल होता है, अतः इसे अम्ल-अवस्थापाक कहते हैं। आयुर्वेद मत से आमाशय रस-पाचक पित्त-वर्ग के अन्तर्गत है। इसी वर्ग में अग्न्याशय रस, आन्त्ररस, तथा यकृत से निकलनेवाले पित्त का भी अन्तर्भाव है।

आमाशय में पाचक रस की अम्लता के प्रभाव से अन्नपान विदग्ध अर्थात् अर्धपक्व और विस्र (आम) गन्धवाले द्रव के रूप में परिणत होता है। अंग्रेजी में इसे काइम (Chyme) कहते हैं। पुनः परिपाक की सम्पूर्णता के लिये वह क्षुद्रान्त्रों में जाता है। क्षुद्रांत्र में पहुंचते ही इस पर पाचक पित्त की क्रिया प्रारम्भ होती है। यह पित्त स्वच्छ-पारदर्शक होता है। यह चतुर्विध अन्नपान को पचाता तथा रस और मल को पृथक् करता है। वाह्य-अग्नि जिस प्रकार पदार्थों को छिन्न-भिन्न कर डालता है, वैसे ही पित्त भी भुक्तान्नपान को अवयवशः विभक्त कर रूपान्तरित कर देता है। अतः इसे उपचार से अग्नि किंवा पाचकाग्नि भी कहते हैं। इसके प्रभाव से अन्नपान जिस रस के रूप में परिणत होता है, वह रस-धातुओं की अपनी-अपनी अग्नि द्वारा पुनः पक्व होता है। धातुएँ पाञ्चभौतिक होती हैं, अतः धातुओं में तेज महाभूत की उपस्थिति से उनकी अपनी ऊष्मा या अग्नि होती है। इसी को कुछ आचार्यों ने 'भौतिकाग्नि' कहा है। उक्त धात्वग्नि तथा पाचक-अग्नि के भेद को स्पष्ट करने के लिये पाचकाग्नि को

'अन्तराग्नि' कहा है। धात्वग्नियों तथा दोष और मल के अग्नियों को चरक ने ऊष्मा कहा है और दोष, धातु तथा मल की ऊष्मा का वर्णन कर १३ अग्नियों का संकेत किया है; जैसे—'दोष धातु मलादीनामूष्मेत्यात्रेय शासनम्।' अ० हृ० २

क्षुद्रांत्र, आमाशय से च्युत अर्धपक्व अन्न को ग्रहण करते हैं, अतः इन्हें (क्षुद्रांत्र के आद्यभाग को) 'ग्रहणी' (Deodenum) कहा गया है। सुश्रुत ने इसी को 'पित्तधरा कला' नाम से व्यपदेश किया है। यहां रहकर अन्तराग्नि (पित्त) सर्वाङ्गस्थ अग्नियों (वा पित्तों) का नियमन तथा उन्हें बल प्रदान करता है।

पच्यमानाशय में पाक

क्षुद्रांत्रों (पच्यमानाशयों) में अन्न का परिपाक अग्न्याशय के रस से होता है। यही आयुर्वेद का जाठर रस या पाचक पित्त (विशिष्ट रूप से) प्रतीत होता है। आग्याशय के रस को सुविधा के लिये अग्निरस भी कहा गया है। याकृत्पित्त तथा आन्त्रों की दीवारों में स्थित ग्रन्थियों के रस (आन्त्ररस) अग्निरस के प्रभाव को बढ़ा देते हैं। उनका पाचन की क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। पाचन क्रिया के अङ्गभूत होने से याकृत्पित्त तथा आन्त्ररस भी आयुर्वेदानुसार पित्त वर्ग के अन्तर्गत हैं।

आग्न्याशय

आग्न्याशय लाला ग्रन्थियों के समान एक ग्रन्थि है, जो क्षुद्रांत्रों के आदि भाग तथा प्लीहा के (क्राड़) में स्थित है। अग्निरस के

अतिरिक्त इसके अग्निद्वीप (Islets of Langer hous) नामक अण्डपुञ्जों से इन्सुलीन नामक बड़ा प्रभावी अन्तःस्रावी रस उत्पन्न होता है। यह रस आयुर्वेदोक्त सर्वशरीरचर पाचक-पित्त प्रतीत होता है। इसका वर्णन अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के प्रकरण में हो चुका है। एक दिन-रात्रि में लगभग ४४ तोला (आधा लीटर) अग्निरस स्रुत होता है। यह वर्णरहित, पारदर्शक, कुछ-कुछ क्षारीय तथा पिच्छिल होता है।

अग्निरस के कार्य

(१) यह भोजन के आमिषांश (प्रोटीनों) का पाचन करता है। इस दृष्टि से यह अमाशय-रस के पेप्सीन के तुल्य होता हुआ भी उससे कहीं अधिक तीव्र और आशुकारी है। इसका यह कार्य इसमें स्थित 'ट्रीप्सीनोजन' नामक तत्त्व के कारण होता है। यह स्वयं अधिक प्रभावी नहीं होता, किन्तु आंत्ररस के एक घटक जिसका नाम 'एण्ट्रोकाइनेज' है, उसकी क्रिया से यह ट्रीप्सीन में परिणत हो जाता है, जो वास्तविक क्रियाशील अंश है।

(२) यह पिष्टसार (Starch) का पाचक है। इसकी यह क्रिया अन्य सब क्रियाओं से तीव्र होती है। लालारस-गत टाइलीन की अपेक्षा इसका कार्बोहाइड्रेटों पर पाचक-प्रभाव अधिक होता है। शिशुओं के अग्निरस में पिष्टसार पाचक अंश (एमायलेज) न्यून होता है। उनका लालारस भी इस दृष्टि से

मन्दक्रिय होता है। इसी कारण शिशुओं का प्राकृतिक आहार दूध, जिसमें पिष्टसार का अंश अतिन्यून होता है।

(३) इसका एक क्रियाशील अंश 'लायपेज' की क्रिया से स्नेहों का पाचन होता है। इसकी क्रिया से स्नेह, स्नेहात्मक और ग्लिसटोल में विच्छिन्न हो जाते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि याकृत्-पित्त का कार्य अग्निरस की सहायता करना है। यह बात प्रोटीनों और कार्बोहाइड्रेटों के पाचन के विषय में सच ही है, स्नेहों के पाचन के विषय में तो स्पष्टरूप से देखा जाता है।

पित्ताश्मरी या कला की शोथ (आयुर्वेद के शब्दों में कफ का आवरण) के कारण याकृत्-पित्त की वाहिनी रुद्ध हो जाय और ग्रहणी में याकृत्-पित्त न पहुंचे, तो स्नेहों का बड़ाभाग—अपक्व ही मल-मार्ग से निकल जाता है। पित्त की अनुपस्थिति के कारण मल का वर्ण पीत न होकर, स्नेहों की उपस्थिति से तिल के कल्क के समान श्वेत होता है। यह अवस्था कामला में देखी जाती है। पचे हुए स्नेह का कला द्वारा आचूषण के लिये भी याकृत्-पित्त का संपर्क अनिवार्य है।

अन्त्ररस के कार्य

(१) यह पिष्टसार के परिपाक से उत्पन्न अथवा आहार के रूप में ली गई शर्कराओं का पाचन करता है। यह कार्य इसमें स्थित 'माल्टेज' नामक पाचक तत्त्व के कारण सम्पन्न होता है।

(२) इसका इरेप्सीन नामक क्रियाशील अंश प्रोटीनों को पचाता है। परन्तु ; इसकी यह क्रिया अपक्व प्रोटीनों पर नहीं, किन्तु ; उनके 'पेप्टान' नामक अर्धपक्व रूपों पर ही होती है।

(३) इसका 'एन्द्रोकाइनेज' नामक क्रियाशील अंश अग्निरस के द्रीप्सीनोजन' को द्रीप्सीन में परिणत कर देता है।

क्षुद्रान्त्र में भी पाक की क्रिया कई बातों के सहकार से होती है। अन्न जब आमाशय को छोड़ता है, तब क्षुद्रान्त्र के आदि भाग (Deodenum) में अपकर्षणी गति प्रारम्भ होती है, इससे याकृत्-पित्त की वाहिनी का छिद्र खुलता है और याकृत-पित्त के कुछ विन्दु ग्रहणी में प्रवेश करते हैं। क्षुद्रांत्रों के आदि भाग की कला से 'सिक्रिटीन' नामक एक रस का स्राव होता है। आन्त्रों में याकृत्-पित्त की उपस्थिति हो, तभी कला इस रस को चूसकर सर्वाङ्ग की रुधिर में (Bloodstream) संचारित कर सकती है। इस प्रकार रुधिर-धारा द्वारा अग्न्याशय में पहुंचा हुआ 'सिक्रीटीन' अग्निरस को स्रावित होनेके लिये उत्तेजित करता है। याकृत्-पित्त के साथ मिलकर अग्निरस स्नेहों को विच्छिन्न करता है, जिससे स्नेहाम्ल उद्भूत होते हैं। ये सिक्रीटीन के स्राव को और बढ़ा देता है, जिसका परिणाम यह होता है कि अग्निरस का स्राव भी द्विगुणित हो जाता है। उधर प्रोटीन के पाचन के लिये अग्निरस को आंत्ररस के एन्द्रो-काइनेज का सहकार प्राप्त होता है। इसकी क्रिया से अग्निरस के द्रीप्सीनोजन का रूपान्तर द्रीप्सीन उत्पन्न होता है। द्रिप्सीन

अन्त्ररस के इरेप्सीन के साथ मिलकर आमाशय द्वारा अपूर्णतया पक्व किये प्रोटीनों के पाक को पूर्ण करता है।

तृतीय अवस्था-पाक

"अधो नाभ्यस्तु खल्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः।
प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्धतेऽनिलः॥

च० चि० १५

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डित पक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः॥

च० चि० १५

भुक्तान्न का तृतीय अवस्था-पाक कटु होता है। यह नाभि के नीचे (आन्त्रों में) होता है। इसके कारण महास्रोतस् के आन्त्र-भाग में, विशेषतः पक्वाशय में, वायु की पुष्टि होती है।

आमाशय रस जीवाणुहर होता है, अतः आमाशय में जीवाणुओं का पोषण सम्भव नहीं। अग्निरस क्षार होने से उनकी पुष्टि के लिये अन्त्र एक उत्तम स्थल है। आयुर्वेद में इस वात को वायु की वृद्धि के लिये अनुकूल कटुरस अवस्थापाक से दर्शाया गया है। जीवाणु भी पाचक रसों के तुल्य ही रस उत्पन्न करते हैं और उनके समान ही प्रोटीन आदि को पूरा या अधूरा पचाते हैं। इनकी क्रिया से विविध वायु (गैस) प्रादुर्भूत होते हैं। यही आयुर्वेदोक्त कटुरस अवस्थापाक से वायु की पुष्टि होती है।

'इमायनो-एसिड' (प्रोटीन के परिपक्व द्रव्य) पर जीवाणुओं की क्रिया से 'एमाइन' जाति के दो द्रव्य उत्पन्न होते हैं। कला द्वारा आचूषित होकर सर्वाङ्ग में पहुंचने के पश्चात् ये यदि वृक्कों द्वारा मूत्रमार्ग से बाहर न निकाल दिये जायँ, तो रक्तचाप (Blood pressure) बढ़ जाता है। मांस, दाल, आदि के रूप में प्रोटीन का आहार घटा देने से रक्तचाप साधारण हो जाता है।

जीवाणुओं की क्रिया से सेल्युलोज कार्बोनिकाम्ल वायु और (मित्रने नामक) द्रव्य के रूप में विच्छिन्न हो जाता है। आन्त्रों में वायु का प्रधान हेतु सेल्युलोज है। शाकाहार में सेल्युलोज अधिक होता है। अतः इस आहार से आन्त्रों में वायु (गैसों) की उत्पति अधिक होती है। इन गैसों से आचूषित होकर शरीरावयवों में पहुंचने से नाना वातिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसी से आयुर्वेद में "शाकेषु सर्वे निवसन्ति रोगाः" कहकर उसको आहार में निषेध किया गया है।

रञ्जक पित्त के कार्य

जो पित्त यकृत और प्लीहा में रहता है, उसका कर्म रस को राग—रक्तवर्ण—प्रदान करना है। उसे 'रञ्जक पित्त' कहते हैं। रक्तोत्पत्ति के वर्णन में स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है कि आप्य द्रव्य, जिसे रस कहते हैं, वह यकृत और प्लीहा में जा कर राग (रक्तता) को प्राप्त होता है। यह राग तत्रस्थ तेजोधातु (रञ्जक-पित्त) क्रिया से होता है। जैसे :—

"स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति ।

श्लोकौ चात्र भवतः—

"रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् ।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥

सु० सू० अ० १४

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते ।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥

च० चि० १५

रस-धातु रक्त से मिलकर उसे पुष्ट करता है, और संवहन-वश जैसे-जैसे रक्त के अधिक सम्पर्क में आता है, वैसे स्वयं अधिकाधिक रक्तरूप धारण करता जाता है। भुक्तान्न द्वारा प्राप्त पोषण की सामग्री प्रभूत राशि में, भुक्त रस में परिणत हो सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता है। इसका जो अंश रक्त-धातु की पुष्टि करता है, वह 'रञ्जक पित्त' की क्रिया से रक्त वर्ण को प्राप्त होता है। रक्त के साहचर्य से ही इसमें अन्य भी परिवर्तन होते हैं और अन्ततोगत्वा यह सर्वात्मना रक्तमय हो जाता है। रञ्जक पित्त-स्थान यकृत्, प्लीहा, (चरक, सुश्रुत) आमाशय (वाग्भट) और हृदय (शार्ङ्गधर) हैं।

रक्त-कण

आधुनिक मत से रक्त का लौहित्य उसमें स्थित रक्तकणों (Red blood corpuseles) के कारण होता है। ये एक

प्रकार के अणु (cell) हैं। इनका आकार वर्तुल, व्यास $\frac{१}{३०००}$ इञ्च तथा मोटाई मध्य में कोई $\frac{१}{२०००}$ इञ्च होती है। समस्त रक्त का ४५ प्रतिशत अंश ये कण होते हैं। इन कणों की रक्तिमा का हेतु एक 'रञ्जक द्रव्य' (Pigment) है। जिसे नवीन वैज्ञानिक 'होमोग्लोबीन' कहते हैं।

रक्त की उत्पत्ति-स्थान

शरीर के अन्य-अणुओं (cells) के सदृश रक्त के उक्त अणु भी नित्य होनेवाले संघर्ष के कारण तथा आयु की अवधि आने पर सर्वदा विनष्ट होते रहते हैं। रक्तकणों की आयु ३० से ४० दिन कूती गई है। अन्य अणुओं के समान इनकी भी पूर्त्ति नवीन अणुओं से होती रहती है।

आयुर्वेद में रक्त की उत्पत्ति यकृत्, प्लीहा और आमाशय से कहा है। आधुनिक अन्वेषण के अनुसार रक्त-कणों तथा क्षत्र-कणों (श्वेत कणों) (White blood corpuseles) की उत्पत्ति अस्थियों की लोहित मज्जा (Red marrow) से होती है। लोहित-मज्जा, अस्थियों के सुषिरसंघातों में विशेष कर कशेरुका, पर्शुका, उरःफलक और कपालास्थि में होती है। भ्रूण और शिशु के नलकास्थियों के विवर में भी लोहित-मज्जा होती है। परन्तु; नवीन शोधों से यह निश्चय हो गया है कि रक्त की उत्पत्ति और विकास पर आमाशय तथा यकृत् का प्रभाव होता है। रक्तकणों की उत्पत्ति के कारण भूत द्रव्य दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तर-द्रव्य तथा वाह्य-द्रव्य। वाह्य-द्रव्य भोजन द्वारा

शरीर में पहुंचता है तथा आभ्यन्तर-द्रव्य शरीर में पहले से विद्यमान होता है, जिसकी वाह्य द्रव्य पर क्रिया से रक्तकणों की उत्पत्ति होती है। यह आभ्यन्तर-द्रव्य आमाशय की कक्षा में स्थित ब्रूनर की ग्रन्थियों तथा मुद्रिकाद्वार के समीप स्थित ग्रन्थियों से निकलनेवाला प्रभावी रस होता है। इस द्रव्य का यकृत् में संचय होता है। यकृत् और आमाशय के इन गुणों के कारण ही आजकल सांघातिक पाण्डुरोग (Pernicious anœmia) में यकृत् और आमाशय के सत्व दिये जाते हैं। जिन प्राणियों में अधिक रक्तस्राव कराया गया हो, उन्हें यदि यकृत् खाने को दिया जाय, तो वे शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करते हैं। इसी से आयुर्वेद में भी रक्तपित्त रोग में अधिक रक्तस्राव होने पर इनके सेवन का आदेश किया गया है।

"अति निःस्रुत रक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिवेदसृक्।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्त समायुतम्॥"

सु० उ० ४५-२८

प्लीहा भ्रूण में रक्तकणों के निर्माण का कार्य करती है। वह प्राणियों में पीछे भी यह कार्य करती है। इसमें 'मोनोसाइट' तथा लिम्फोसाइट नाम के क्षत्रकण (श्वेत कण) उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त प्लीहा, रुधिर अथवा रक्तकणों के संग्रह का उत्तम संग्रह-स्थान है। इसमें से बाहर आनेवाले रक्त में होमोग्लोबीन की अधिक संख्या होती है। अतः आयुर्वेदोक्त रञ्जक पित्त का

स्थान यकृत्, प्लीहा तथा आमाशय आधुनिक विचारसम्मत है। शार्ङ्गधर ने रञ्जक-पित्त का स्थान हृदय भी कहा है। यह भी उक्त मतों से विरुद्ध नहीं है। रस सीधा अथवा यकृत् द्वारा प्रथम हृदय में ही जाता है और उसी की क्रिया से रक्त में मिश्रित हो उक्त द्रव्य के सम्पर्क से शरीर में अनुधावन करता हुआ रक्ताकार हो जाता है।

विशुद्ध रक्त का स्वरूप

"तपनीयेन्द्र गोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्।
गुञ्जाफल सवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम्॥"

च० सू० २४

'इन्द्रगोपकप्रतिकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात्।'

सु० सू० १४

शुद्ध रक्त का वर्ण लाल होता है। (मनुष्यों की वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सम प्रकृति के कारण रक्तिमा में भी कुछ भेद होता है)। सम प्रकृति पुरुष के रुधिर की रक्तिमा बीर-बहूटी के वर्ण के सदृश होती है। शेष वातादि प्रकृतिवाले पुरुषों के रक्त का वर्ण तपाये हुए सुवर्ण, रक्त कमल, लाक्षारस या गुञ्जा (घुंघची-करजनी) के वर्ण के सदृश होता है।

शरीर में अनुधावन करता हुआ रुधिर जब फुफ्फुसों में आता है, तब कार्बनिकाम्ल वायु को छोड़ देता है। यह वायु

तापोत्पादक द्रव्यों के धातुपाक वश शरीर में उत्पन्न एक मल है और रुधिर द्वारा संग्रहीत किया जाकर फुफ्फुसों के मार्ग से बाहर कर दिया जाता है। वायुमण्डलस्थ ओषजन (Oxygen) तब रुधिरस्थ होमोग्लोबीन से मिल जाता है। ओषजन और होमोग्लोबीन के मिश्रण से औक्सीहोमोग्लोबीन (Oxyhaemoglobin) नामक द्रव्य प्रस्तुत होता है। इसका वर्ण बीरबहूटी या गुञ्जा के सदृश चमकीला, लाल (Bright red) होता है। शुद्ध रक्त भी उसके कारण उसी वर्ण का होता है। यह शुद्ध रक्त फुफ्फुसों से हृदय में आता है और वहां से धमनियों द्वारा समस्त शरीर में प्रसृत होता है। धातु इस रक्त से पोषक-द्रव्यों के साथ ओषजन का भी ग्रहण करते हैं, जिससे 'औक्सीहोमोग्लोबीन' पुनः होमोग्लोबीन में परिणत हो जाता है। यह अपचित रक्त अर्थात् ओषजन-रहित रक्त (Deoxygenated or reduced blood) अब हृदय की ओर लौटने लगता है। इसमें उस काल पूर्वोक्त धातु पाकजन्य कार्बोनिकाम्ल वायु भी मिली रहती है।

होमोग्लोबीन का प्रधान तत्त्व अयस् (लोहा) है, जो बहुत थोड़ा ०·४ प्रतिशत होता है। उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि होमोग्लोबीन ओषजनवाहक (oxygen carrier) है। और उसके आश्रयभूत रक्तकण का कार्य धातुओं को ओषजन पहुंचाना तथा कार्बोनिकाम्ल को उनसे लेना है। धमनीगत रुधिर के १०० घन सेण्टीमीटर में २० घन सेण्टीमीटर ओक्जन होता है।

उक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि आयुर्वेद का 'रञ्जक पित्त' होमोग्लोबीन ही है।

साधक पित्त

साधक-पित्त का स्थान हृदय कहा गया है। यह हृदय के आवरक कफ और तम को दूरकर मन को विमल और उत्कृष्ट करता है। मन के उत्कृष्ट होने से बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि विकसित होते हैं। परिणाम-स्वरूप आत्मा अपने इष्ट-धर्मादि पुरुषार्थों के साधन में समर्थ होता है। अतः इस पित्त का नाम 'साधक-पित्त' है। भय या शौर्य, क्रोध या हर्ष, मोह (अज्ञान-ज्ञानेन्द्रियों की अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में अपटुता) वा प्रसाद (इन्द्रियों की निर्बलता और पटुता) आदि द्वन्द्व विकृतिस्थ वा प्रकृतिस्थ साधक-पित्त के कर्म हैं।

यह साधक-पित्त आधुनिक क्रियाशारीर की दृष्टि से क्या है, यह कहना कठिन है। अधिवृक्क-ग्रन्थि के स्राव, जिसे 'एड्रे-नेलीन' कहते हैं, उन कार्यों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है, कि सम्भव है यह साधक-पित्त का कोई सम्बन्धी है। यह मध्य स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान को प्रभावित करता है, जिसका परिणाम हृदय की गति-वृद्धि आदि होता है। चक्रपाणि ने भय या शौर्य, क्रोध वा हर्ष, साधक-पित्त के कर्म कहे हैं, जो एड्रेनेलीन के प्रभावों से साम्य रखता है। परन्तु यह एड्रेनेलीन हृदय में उत्पन्न नहीं होता। हृदय पर इसके प्रभाव को देखकर इसे 'गंगायां घोषः' के समान हृदयस्थ कहा जा सकता है।

आलोचक पित्त

नेत्र में रहनेवाले पित्त को आलोचक-पित्त कहा गया है। इसका कर्म वस्तुओं का दर्शन कराना है। रूप, प्रकाश, या वर्ण का ज्ञान नेत्रेन्द्रिय से होता है। नेत्रेन्द्रिय का आश्रय 'नेत्रगोलक' है। आयुर्वेद में इसे 'नेत्र-बुद्बुद' कहा है। (सु० उ० १-१०)

नेत्र-गोलक के मण्डल—नेत्र-गोलक में बाहर से अन्दर की ओर पांच मण्डल या स्तर होते हैं।

"पक्ष्मवर्त्म श्वेत कृष्ण दृष्टीनां मण्डलानि तु।
अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम् ॥

सु० उ० १-१५

प्रथम मण्डल पक्ष्म—नेत्रलोम (Eye lashes) कहलाता है। शेष मण्डल क्रम से वर्त्म, श्वेत मण्डल, कृष्ण मण्डल तथा दृष्टि-मण्डल कहलाते हैं।

आधुनिक मत से नेत्रगोलक एक कैमरा है। यह भी अनेक मण्डलों (Coats) से बना होता है। अन्तिम मण्डल प्लेट के समान होता है। इसमें दृष्टि-नाड़ी (Optic nerve) के प्रतान व्याप्त होते हैं। ये प्रतान इस मण्डल पर पड़े हुए प्रतिबिम्ब को मस्तिष्क के वल्क भाग में स्थित दृष्टि-क्षेत्र में पहुंचाते हैं। इस स्थल में इनका ग्रहण रूप-ज्ञान के रूप में होता है। उक्त मण्डल को आयुर्वेद में 'दृष्टि-मण्डल' (Retina) कहा है।

नेत्रगोलक के दर्शन-क्रिया में भाग लेनेवाले शेष मण्डल केवल

रश्मियों के गुजरने और ठीक तरह से दृष्टि-मण्डल पर पहुंचाने के साधक हैं। प्रकाश की किरणें प्लेट पर ठीक तरह से पड़ें, एतदर्थ कैमरे में आगे-पीछे खिसकाने का प्रबन्ध रहता है। नेत्र-गोलक में यह कार्य परिस्थिति के अनुसार इन मण्डलों में होनेवाले परिवर्तनों से सम्पन्न होता है। इन परिवर्तनों का नाम 'केन्द्रीकरण' (Accomodation) है। इनका संक्षिप्त वर्णन आगे दिया जायगा। नेत्रगोलक विविध छोटी-छोटी पेशियों द्वारा अपने स्थान पर सुबद्ध होता है। पेशियों द्वारा ही इसकी तत्तत् गतियां होती हैं।

वर्त्ममण्डल (Conjuctive)

इसका प्रसिद्ध नाम 'पलक' है। इसका अन्तर्वर्ती भाग, कला (Eye lids) से आवृत्त होता है। यही कला नेत्रगोलक को भी आगे की ओर से ढँके रहती है। यह कला और नेत्रों का अन्तर्देश सर्वदा अश्रु (आँसू) नामक लवण द्रव से आर्द्र, विमल और नीरोग रहा करता है। आँखें दुखनी और पानी आना इसी कला की शोथ का परिणाम है।

अश्रु एक ग्रन्थि का स्राव है, जिसे 'अश्रु-ग्रन्थि' (Lachrymal glands) कहते हैं। यह प्रत्येक 'नेत्र गुहा' (Orbital cavity) में एक होती है तथा गुहा के ऊपर और बाहर की ओर कपालास्थि के एक गर्त में स्थित होती है। आकार में यह छोटे बादाम जितनी होती है। अश्रु सदा इन ग्रंथियों से झरता और कतिपय प्रणालियों द्वारा आँख में आया करता है। आँखों के अन्तःकोण

में प्रत्येक पलक पर एक छिद्र होता है। यह छिद्र अश्रुद्वार (Puncta lacrymalia) कहलाता है। ये दो प्रणालियों के मुख है, जिनके द्वारा अश्रु और उसके साथ धूलि आदि कण वाहित होकर प्रथम अश्रुकुम्भिका (Lachrymal sac) में एकत्र होते हैं। यह एक छोटा-सा आशय है और नासागुहा के पार्श्वभाग में ऊपर की ओर स्थित होता है। अश्रुकुम्भिका से अश्रु एक कुल्या द्वारा नासिका में जाता है।

श्वेत मण्डल या शुक्ल मण्डल (Sclera)

यह मण्डल सब मण्डलों में स्थूल और दृढ़ होता है। आँख का श्वेत भाग यही है। आगे की ओर $\frac{1}{6}$ भाग छोड़कर (जिसमें आगे कहा स्वच्छ भाग होता है) नेत्रगोलक का शेष $\frac{5}{6}$ भाग इस मण्डल से (Scleratic coat) अधिष्ठित होता है। इसके पश्चात् भाग में स्थित छिद्रों से दृष्टिनाड़ी तथा रक्तवहाएँ प्रविष्ट होती हैं।

स्वच्छ मण्डल (Cornea)

नेत्रगोलक का अग्रिम $\frac{1}{6}$ भाग गोलाई में आगे की ओर उभरा हुआ तथा शेष वर्त्तुल होता है। यह उभरा हुआ भाग स्वतन्त्र अवयव है और 'स्वच्छ मण्डल' कहलाता है। यह स्वच्छ (पारदर्शक) होता है। इसका अपना वर्ण नहीं होता। पीछे कृष्ण या पिङ्गल वर्ण के तारा-मण्डल के कारण इसका भी वर्ण उनके जैसे दीखता है। चारों ओर यह

पूर्ववर्णित शुक्लमण्डल से संयुक्त होता है। इसमें रक्तवाहिनियाँ नहीं होतीं, जिससे इस भाग में व्रण हो जाय, तो वह श्वेत-वर्ण होता है।

कृष्ण मण्डल (Chloroid coat)

यह शुक्लमण्डल के भीतर की ओर होता है। रक्तवाहिनियों के निविड़ जाल तथा कृष्णरञ्जक-द्रव्य (Pigment) के कारण इसका वर्ण काला होता है।

तारामण्डल तथा कनीनक

कृष्णमण्डल का ही अग्रवर्ती विस्तार तारा-मण्डल (Iris) होता है। (कृष्णमण्डल का ही अवयव होने से आयुर्वेद में इसका स्वतन्त्र वर्णन नहीं है। यद्यपि इसके कनीनक (पुतली) नामक छिद्र का उल्लेख है।) इसीके कारण स्वच्छमण्डल का भी वर्ण कृष्ण या पिङ्गल दिखाई पड़ता है। यह मध्य में छिद्रित होता है, छिद्र कनीनक या पुतली (Papil) कहलाता है। तारामण्डल दो प्रकार के स्वतन्त्र मांस-सूत्रों से वेष्टित होता है। एक प्रकार के सूत्र गोलाई में स्थित होते हैं। इनके सिकुड़ने से पुतली छोटी (संकुचित) होती है। द्वितीय प्रकार के सूत्र किरणवत् (चारों ओर प्रसारी) होते हैं। इनके संकोच से पुतली फैलती है। अतिप्रकाश में या निकटस्थ वस्तुओं को देखते हुए पुतली संकुचित होती है। अन्धकार में या दूरस्थ वस्तुओं को देखने में या भावावेश में पुतली फैलती है। अनेक रोगों के निर्णय में पुतली का संकोच, विकास,

या वर्त्तुलता का देखना आवश्यक होता है। पुतली का संकोच-विकास स्वतन्त्र नाड़ी-संस्थान के अधीन है

अक्षिकाच या मणि (Lens)

कैमरे में जैसे लेन्स होता है, वैसे ही नेत्रगोलक में मणि होती है। यह सुश्रुतोक्त द्वितीय पटल प्रतीत होता है। इसमें तिमिर नामक रोग होता है। इसका स्वरूप उभय—उन्नतोदर तथा पारदर्शक—होता है और तारा-मण्डल से लगभग संलग्न होता है। इस में होकर दृष्टिमण्डल पर दृश्य पदार्थों की वैसे ही प्रतिभाएँ पड़ती हैं, जैसे कैमरे में लेन्स में होकर प्लेट पर। दूर या निकट की वस्तुओं को संव्यूहन के लिये (फोकस पर लाने के लिये) नेत्र में ऐसा प्रबन्ध रहता है, कि जिससे मणि की वत्तुलता न्यून या अधिक हो जाती है। परिणाम में, वस्तुओं की प्रतिमा स्वस्थ अवस्था में सर्वदा दृष्टिमण्डल पर ही पड़ती है।

मणि प्याज के समान अनेक आवरणों से बनी होती है। मणि को शुष्क करके हाथ से ये आवरण उतारे भी जा सकते हैं। वार्धक्य में मणि प्रायः उत्तरोत्तर पक्व और अपारदर्शक होने लगती है, जिससे दीखना बन्द हो जाता है। इस रोग को लोक में मोतियाबिन्द (Cataract) तथा शास्त्र में 'लिङ्गनाश' या 'निलिका काच' कहते हैं। इसका आधुनिक उपाय शस्त्र-कर्म द्वारा मणि को निकाल देना है और उसके स्थान पर उपयुक्त काचवाला उपनेत्र धारण करना है।

संधान-मण्डल

स्वच्छमण्डल तथा कृष्णमण्डल के मध्य कुछ मांस सूत्र होते हैं। इन्हें संधान-मण्डल (Ciliary body) कहते हैं। मणि एक बंधनी द्वारा अपने स्थान पर टिकी होती है। यह बंधनी संधान-मण्डल से जुड़ी होती है। संधान-मण्डल के संकुचित होने से मणि की बंधनी शिथिल हो जाती है। फलस्वरूप मणि (जो कि स्थिति-स्थापक होती है) स्थूल तथा अधिक उन्नतोदर हो जाती है। यह अवस्था निकटस्थ वस्तुओं को देखते समय होती है। इसे 'केन्द्री करण' कहते हैं।

दृष्टि-मण्डल (Retina)

यह कृष्णमण्डल के अन्दर की ओर स्थित अत्यन्त पतली तथा संवेदी (अनुभवशील) कला है। इसी मण्डल में प्रकाश की किरणों का ग्रहण होता है। यह मुख्यतः दृष्टिनाड़ी के प्रतानों से बना होता है। सूक्ष्म परीक्षा से दृष्टिमण्डल नाड़ी-अणुओं (Nerve cells) से बने दश-स्तरों में विभक्त पाया जाता है। इनमें अन्दर से बाहर की ओर नवम-स्तर प्रधान होता है। इसमें दो प्रकार के नाड़ी-अणु पाये जाते हैं। अपनी विशिष्ट आकृति के कारण, इन्हें शूल (Rods) और बेमा (Cones) कहते हैं। शूलों में रौडोप्सिन या विझुअल पर्पल (Rhodopsin or visual purple) 'रञ्जक' होता है। वस्तुओं को देखते समय प्रकाश की किरणें गृहीत होकर उक्त रौडोप्सिन नामक रञ्जक पर पड़ती है।

परिणाम-स्वरूप वह विवर्ण हो जाता है। यही विवर्ण हुआ रञ्जक किसी अज्ञात प्रकार से दृष्टि-नाड़ी के प्रतानों को प्रभावित करता है, और वे प्रकाश की संज्ञा को वल्क (मस्तिष्क के उपरिभाग) में पहुंचाते हैं। उक्त रञ्जक के कर्मों पर दृष्टिपात करने से आयुर्वेद का आलोचक-पित्त यहीं प्रतीत होता है। परन्तु आलोचक-पित्त को और भी व्यापक परिभाषा देनी होगी, जिससे रूप-ग्रहण की सारी क्रियाओं का वह नियामक बन सके।

सूर्य आदि प्रकाशमान पिण्डों की किरणें वस्तुओं पर पड़ती हैं और वहां से प्रतिफलित होकर नेत्रगोलक में प्रविष्ट होती हैं। इस प्रकार हमें वस्तुओं का दर्शन होता है। यही बात आयुर्वेद में भी मानी गयी है। देखिये—"चक्षुस्तैजसं, तेजः सहकृतं च पश्यति। × × × तदुक्तं शालाक्ये—'यत्तेजो ज्योतिषां दीप्तं, शारीरं प्राणिनां च यत्। संयुक्तं तेजसा तेजस्तद्धि रूपाणि पश्यति।" च० सू० ५-७ पर —चक्रपाणि

दर्शन-केन्द्र

पुतली के ठीक सामने, दृष्टिमण्डल के मध्य में एक पीला-सा बिन्दु होता है। इसे 'पीतबिम्ब' (Macula lutea) या (Yellow spot) कहते हैं। इसका विस्तार कोई १ मिलीमीटर होता है। इसके मध्य में एक गड्ढा होता है। इस गड्ढे में दृष्टि सब स्थानों की अपेक्षया तीक्ष्ण होती है। हम प्रतिपल नेत्रों को हिलाते रहते हैं, उसका कारण यही होता है कि दृश्य-वस्तु की प्रतिमा दृष्टिमण्डल के इस स्थल पर पड़े। इस गड्ढे को

'दर्शन-केन्द्र' (Fovia centralis) कहते हैं। सुश्रुत-उत्तरतंत्र में इसका सुन्दर वर्णन मिलता है। जैसे—

"मसूर दल मात्रां तु पञ्चभूत प्रसादजाम्।
खद्योत विस्फुलिङ्गाभां सिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णो बाह्येन विवराकृतिम्।
शीत सात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः।"

सु० उ० ७-३-४

इसका वर्णन स्वरूप-निर्णय में हो चुका है।

अन्ध-बिन्दु

पीतबिम्ब से कोई तीन मिलीमीटर अन्दर की ओर दृष्टिनाड़ी के निर्गम स्थान हैं। इसे 'सित-बिम्ब' (Optic disc) कहते हैं। दृष्टिनाड़ी के मध्य में होकर धमनियाँ और शिराएँ आती-जाती हैं। सित-बिम्ब में दृष्टि-शक्ति सर्वथा नहीं होती। अतः इसे 'अन्ध-बिन्दु' (Blind spot) भी कहते हैं। नेत्र-रोग में दृष्टि-मण्डल की परीक्षा के लिये एक दर्पण प्रयुक्त होता है। इसे 'नेत्र वीक्षण' (Opthalmascope) कहते हैं।

नेत्र-जल

नेत्रगोलक के आभ्यन्तर भाग में दो प्रकार के तरल पाए जाते हैं। प्रथम तरल आगे की ओर स्वच्छ-मण्डल और तारा-मण्डल के मध्य तथा पीछे की ओर तारा-मण्डल और मणि के मध्य रहता है।

यह जलप्राय तथा कुछ-कुछ लवण-रस-युक्त होता है। दूसरा तरल नेत्रगोलक की मणि के पीछे स्थित ⅔ भाग में दृष्टिमण्डल के आश्रय में भरा रहता है। यह स्वच्छ (पारदर्शक) और अर्धघन होता है। इसके दबाव से नेत्रगोलक दृढ़ बना रहता है। अन्यथा दृष्टिमण्डल अपने स्थान से च्युत हो जाय।

इन दोनों तरलों को 'नेत्र-जल' कहते हैं। पहले की पारिभाषिक संज्ञा 'तेजोजल' (Aqueous humour) तथा दूसरे की 'मेदोजल' (Vitreous humour) है। तेजोजल सर्वदा स्वच्छ और शुक्लमण्डल की संधि पर स्थित एक द्वार से स्रुत होकर रस-धातु में मिलता रहता है। यह द्वार किसी कारण से रुद्ध हो जाय, तो तेजोजल का संचय हो जाता है। इस संचित जल के दबाव के कारण नेत्रगोलक तथा शिर में अति-असह्य पीड़ा होती है। इस रोग को अंग्रेजी में 'ग्लोकोमा' कहते हैं।

इस प्रकार नेत्र के अवयवों की रचना तथा कार्य का वर्णन किया गया। संक्षेप में स्वच्छमण्डल, तेजोजल, मणि, तथा मेदोजल प्रकाश की रश्मियों को संव्यूहित (फोकस) कर दृष्टि-मण्डल के पीत-बिम्ब पर पहुंचाने का काम करते हैं। इस प्रकार उत्पन्न प्रतिमा ही दृष्टिनाड़ी द्वारा मतिष्क में पहुंचकर रूप-दर्शन कराती है। अतः आलोचक-पित्त का आलोचनात्मक तथा रूपोद्भासक कार्य उक्त सभी अवयवों द्वारा होने से ये सभी अवयव आंशिक रूप से आलोचक-पित्त के सहायक हैं और तेजो-जल, रौडोप्सिन नामक रञ्जक, पित्त-बिन्दु तथा दृष्टिनाड़ी इस

(आलोचक - पित्त) का मुख्य स्थान है। (महामहोपाध्याय गणनाथ सेन ने उक्त तेजोजल को 'तनु-जल' और मेदोजल को 'सान्द्र जल' कहा है।)

भ्राजक-पित्त

स्वेद और मेद की ग्रंथियाँ प्राकृतिक-स्थिति में जिस पदार्थ से प्रभावित होती हैं और अपना कार्य करती हैं उसे भ्राजक-पित्त कहते हैं। नाड़ी संस्थान में यद्यपि इन ग्रंथियों को प्रेरित करने-वाले केन्द्र हैं; तथापि उनका नियमन सामान्यदशा में शरीर के ऊष्मा से होता है। अतएव वाह्यवातावरण का अथवा व्यायाम द्वारा शरीर के अन्तर्गत ऊष्मा बढ़ने पर स्वेद अधिक आता है, तथा उसके न्यून होने पर न्यून होता है। अतः शरीरोष्मा को भ्राजक पित्त कहा जा सकता है। भ्राजक शब्द दीप्ति (कान्ति) अर्थ 'भ्राज' (ज़ृ) धातु से बना है।

भ्राजक पित्त का कार्य, आयुर्वेद-शास्त्र में, अभ्यङ्ग, स्वेदन अवगाहन, (शीत या उष्ण जल, क्वाथ, सिद्धतैल आदि से पूर्ण द्रोणी-टब में रोगी को बैठाना) लेपन आदि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों को पकाना (उन्हें शरीर के अनुरूप रूपान्तर कर शरीर में पहुंचाना), त्वचा को कान्ति प्रदान करना तथा शरीर के ऊष्मा का नियमन करना है। अधुनिक मत से भ्राजक-पित्त के कर्म त्वचा में स्थित-उष्मा से नियंत्रित स्वेद तथा मेद की ग्रंथियों के अधीन समझे जा सकते हैं।

त्वचा अपने अन्दर स्थित भ्राजक-पित्त की सहायता से शरीरोष्मा का साम्य (नियंत्रण) रखती है, लेप-आदि द्रव्यों को ग्रहण कर शरीर में पहुंचाती है और शरीर को कान्ति प्रदान करती है। त्वचा ही स्वेद (स्वेद-ग्रंथियों) का आश्रय है, और उसके द्वारा होनेवाले कर्मों का आधार कारण है। (मेदो ग्रन्थियाँ, नख, रोम, केश, तथा स्तन-ग्रंथियों का आश्रय भी त्वचा है।) वही आगे कही जानेवाली पाँच प्रकार की छायाओं को भी प्रकाशक है।

(पाञ्चभौतिक होते हुए भी त्वचा में वायुभूत की प्रधानता रहती है। इसी कारण त्वचा वायुभूत की प्रधानतावाले स्पर्श गुण का ग्रहण करती है।)

छठा अध्याय

प्रकृत-कफ के कार्यों का वर्णन

"सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति।" च० सू० १२-१२

"श्लेष्मा सौम्य इति" सु० सू० ४२-५

"तद्यथा दार्ढ्यं शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीवतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवादीनि चापराणि द्वंद्वानि इति"

च० सू० १२

"स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्॥"

च० सू० १८-११

"संधिसंश्लेषण स्नेहनरोपण पूरण बलस्थैर्य कृच्छ्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्तं उदक कर्मणाऽनुग्रहं करोति॥" सु० सू० १५-४

"प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतोमल उच्यते।
सचैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते॥"

च० सू० १७-११७

"गुरुशीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः॥"

च० सू० १-११

"श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च ।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः ॥"

सु० सू० २१-१५

"श्लेष्माहि स्निग्धश्लक्ष्णमृदु मधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमित गुरुशीत पिच्छिलाच्छः ॥" च० वि० ८-९६

"कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिलः शीतलस्तथा।
तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत् ॥"

शार्ङ्गधर पू० अ० ५

"माधुर्यस्नेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा तस्य समान योनिर्मधुरो रसः ।" सु० सू० ४२

"स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यमात्स्न्यानिश्लेष्मणआत्म रूपाण्येवं विधत्वाच्च कर्मणः स्वालक्षण्यमिदमस्य भवति ।" च० सू० २०-२१

उपर्युक्त सूत्र तथा श्लोकों में श्लेष्मा को सौम्य कहा है। शरीर के अन्दर दृढ़ता, उपचय, उत्साह, वृषता, ज्ञान, बुद्धि, आदि को उत्पन्न करना प्रकृत-श्लेष्मा का कार्य कहा है। 'विकृत होने पर वही उसके विपरीत शैथिल्य, कार्श्य, आलस्य, क्लीवता, अज्ञान तथा मोह को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उक्त शुभाशुभ द्वन्द्व-श्लेष्मा के प्रकृत तथा विकृत अवस्था के कर्म हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा का कार्य प्राणियों तथा वनस्पतियों में आर्द्रता, पुष्टि और बल उत्पन्न करना है, उसी प्रकार सौम्य होने से प्रकृत-कफ भी शरीर के अन्दर आर्द्रता, पुष्टि और बल उत्पन्न करता है। चन्द्र तथा

सौम्य कफ का यह कार्य 'विसर्ग' कहलाता है। शरीर में कफ के कर्म चन्द्र के कर्म के समान ही है। चन्द्र अपनी शीतल रश्मियों द्वारा प्राणियों तथा वनस्पतियों में आप्य-अंश तथा बल की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि करता है। चन्द्र का यह कार्य वर्षा, शरद और हेमन्त-ऋतुओं में अर्थात् ऋतु के विसर्ग काल (दक्षिणायन) में सविशेष प्रकट होता है। इस काल में अम्ल, लवण और मधुर-रस पुष्ट होते हैं। अम्ल, लवण और मधुर-रस शरीर में श्लेष्मा की उत्पत्ति तथा वृद्ध करते हैं। प्रकृति में इन तीन रसों का जनक और पोषक चन्द्र है। अतः परम्परया शरीर में श्लेष्मा का मूल कारण चन्द्र ही है। इसीको आलङ्कारिक भाषा में कहा गया है, कि चन्द्र (सोम) ही कफ के रूप में शरीर में रह कर प्रकृत-अवस्था में शुभ तथा विकृत-अवस्था में अशुभ कार्य करता है।

शरीर का स्नेहन नाम आर्द्रता और स्निग्धता ; संधियों का बन्धन तथा मार्दव, अङ्गों को दृढ़ (स्थिर, अशिथिल) रखना, शरीर की स्वभाविक गुरुता, भराव (पूरण) और वृद्धि, तर्पण, व्रणोंका रोहण, वीर्यवत्ता, बल (मानसिक तथा शारीरिक) पुष्टि, उत्साह, क्षमा (सहिष्णुता), मानसिक स्थिरता (धृति), ज्ञान, विवेक, अलोलुपता, ये सब प्रकृतिस्थ कफ के कर्म हैं। इन कर्मों के कारण कफ को स्वयं बल या ओज की संज्ञा दी गई है। श्लेष्मा के इन कर्मों को 'उदक-कर्म' कहा गया है। श्लेष्मा अपने आप में गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, स्थिर, पिच्छिल श्वेत, प्रकृतिभूत मधुर

रस तथा विकृत अवस्था में लवण रसवाला होता है। अतः उसका आत्मरूप "गुणगुणिनोरभेदः" इस न्यायानुसार उक्त गुणमय ही कहा गया है। इसकी योनि मधुर-रस है।

पित्त के समान ही यह सर्वशरीर चर तथा सर्वस्रोतो चर होने पर भी स्थान-कर्म के अनुसार पाँच भागों में विभक्त है।

क्लेदक-कफ

आमाशय में जो कफ होता है; उसे क्लेदक कफ कहते हैं। यह भोजन किये गये अन्न का क्लेदन (आर्द्रीकरण) करता है अतः इसका नाम क्लिन्न करने से क्लेदक है। प्रथम अवस्था पाक मधुर होने के कारण, अन्न-षड्रस हो तो भी आमाशय में उसका रस प्रधानतया 'मधुर' होता है। इस मधुर पाक के कारण भोजन के प्रारम्भ में, भोजन खाने के १–१॥ घंटे बाद तक आमाशय में समान गुणवाले मधुर और शीतल गुणवाले कफ की वृद्धि होती है। शरीर में अन्यत्र भी इस काल कफ की वृद्धि के लक्षण दिखाई देते हैं। जैसे—भोजन के बाद तन्द्रा, निद्रा, आदि लक्षण। आहार में यदि मधुर, अम्ल, लवण, पिच्छिल, क्लेदयुक्त द्रव, स्निग्ध आदि द्रव्यों की अधिकता (प्रमाण में अधिक) हो तो स्वभावतः कफ की वृद्धि होती है। यह आमाशय में उत्पन्न होनेवाला कफ, शरीर तथा अन्य कफाशयों को स्नेहन, पोषणादि उदक कर्मों द्वारा अनुग्रह (सहायता) करता है।

आमाशय और उरः स्थल श्लेष्मा के प्रधान स्थान हैं। परन्तु, इनकी यह प्रधानता इनके विकृत-श्लेष्मा के मूलाश्रय होने के

कारण है। अतएव बमन प्रभृति उपचारों से यदि इन स्थलों पर विजय प्राप्त कर लिया जाय, तो शरीर में अन्यत्र भी स्थित श्लेष्मा का स्वयं विनिपात हो जाता है। अन्य स्थानों की कला के समान आमाशय की अन्तःकला से श्लेष्मा का स्राव होता है। इस श्लेष्मा का नाम 'क्लेदक' है। यद्यपि "तद् द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहने मृदुतांगतम्" (च० चि० १५)—इन प्रमाणों से अन्न पान के द्रवत्व, स्नेहत्व आदि गुणों से ही मुख्यतः अन्न का क्लेदन होता है, किन्तु आमाशयस्थ श्लेष्मा के भी यत्किञ्चित् क्लेदक होने के कारण इसे यह विशिष्ट नाम दिया गया है।

मल संज्ञक कफ, स्वेदादि भी जब समावस्था में रह कर केवल कला वा त्वचा का उपलेप मात्र करते हैं, तब वे भी प्रसाद संज्ञक होते हैं। इसके विपरीत जब ये प्रकुपित हो प्रभूत मात्रा में निकलते हैं और शरीर की जीवनीय क्रियाओं में बाधा पहुंचाते हैं, तो इनकी मल-संज्ञा होती है। इसके अनुसार क्लेदक कफ भी सम प्रमाण में रहता हुआ जब तक आमाशय की अन्तः कला का उपलेपन, मार्दव, अन्न का क्लेदन मात्र करता है, तब तक वह प्रसादभूत व प्रकृत है। अधिक होने पर यही मलभूत होकर शरीर में गौरव, मन्दाग्नि, हृल्लास, प्रतिश्याय आदि विकारों का जन्म देता है। उस काल उससे आवृत होने के कारण आमाशय (मुख, आमाशय तथा पच्यमानाशय) से पाचक रसों का स्राव-मात्रा और गुण की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होता, अतः अन्न का परिपाक उत्तम न होने से उक्त विकार उत्पन्न होते हैं।

आमाशय में क्लेदक कफ सम-प्रमाण में हो, तो पाचन की क्रिया सुसम्पन्न होती है। परिणाम स्वरूप सम्यक् पकरस यथोक्त क्रम से शरीर में पहुंच अन्य श्लेष्माओं तथा शरीर को पुष्टि प्रदान करता है। क्लेदक कफ का प्रकोप होने से अरुचि, मन्दाग्नि आदि के कारण पर्याप्त आहार न लिया जाय और लिये गए आहार का सम्यक् पाक न होने से धातुओं का पोषक-रसधातु पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होता फलस्वरूप, धात्वग्नियों की क्रिया से धातु कृश तो होते रहते हैं, परन्तु उनकी पुष्टि नहीं होती। इस प्रकार समावस्था में स्थित क्लेदक-कफ धातुओं की पुष्टि कर उनका अग्नि-पित्त से संरक्षण करता है। इसी को आयुर्वेद में अलंकार रीति से कहा है—"तत्र, आमाशयः पित्ताशयस्योपरिष्टात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वाद् तेजसः चन्द्र इवादित्यस्य" अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के शोषण से पिण्ड और ब्रह्मण्ड के रक्षण के लिये उसके ऊपर चन्द्र को रखा गया है, वैसे ही अग्नि (पित्त) के लिये वा उससे संभावित शोषण से शरीर-रक्षा के लिये आमाशय की स्थापना की गयी है।

मुख-पाक, (Stomatitis) आमाशय-पाक (Gastritis), आमाशय-व्रण (Gastric ulcer) अथवा अन्य स्थलों पर ऐसे ही शोथ, वैद्यक मत से उस स्थल पर पित्त की अधिकता के कारण किंवा कफ की क्षीणता के कारण हुई पित्त की अधिक क्रिया से होते हैं।

क्लेदक कफ से शरीर और कफाशयों के पोषण की उल्लिखित

व्याख्या नव्य मत से भी समर्थित है। आयुर्वेदानुसार आमाशय में कफ के वृद्धि गत होने से-या साक्षात् कफ का आचूषण होने से अन्य अवयवों में कफ की वृद्धि और पुष्टि होती है या आमाशय में कफ की वृद्धि का प्रभाव प्रतिसंक्रमित क्रिया द्वारा अन्य अवयवों पर और कफाशयों पर पड़ता है। कदाचित् प्रकृत अवस्था में भी इन स्थलों को केन्द्र मान कर चक्रवत् भ्रमण करता हुआ कफ अन्य अवयवों का पोषण करता है।

अवलम्बक-कफ

कफ का द्वितीय भेद अवलम्बक-कफ है। यह उरस् (छाती) में रहता है। अन्य स्थानों की अपेक्षा उरस् कफ का विशेष करके स्थान है। यहां रहकर अवलम्बक कफ अन्नरस (रसधातु) के साथ मिलकर अपने वीर्य के द्वारा त्रिक (ग्रीवा और बाहु के अस्थियों का संधान) हृदय और फुफ्फुस तथा अन्य स्थानों पर स्थित कफ का अवलम्बन करता है। फुफ्फुसों और हृदय की आवरणी कलाओं द्वारा स्रुत द्रव, सम तथा अविकृत अवस्था में रहकर हृदय और फुफ्फुसों द्वारा शरीर के अनुग्रह के लिये की जानेवाली जीवनीय क्रियाओं में सहायक होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। इनकी सहायता से हृदय और फुफ्फुस जिस ओषजन को शरीर के प्रत्येक अणु (Cell) में पहुंचाते हैं, वह रस के साथ मिलकर उन्हें अपने कार्य का सामार्थ्य प्रदान करता है।

श्वास-मार्ग तथा प्राणवह-स्रोतों (वायु-कोषों) की कला से स्रुत कफ साम्यावस्था में रहे तो शरीर को ओषजन पर्याप्त मात्रा

में मिलता है, एवं पूर्वोक्त प्रकार से इसके साथ मिलकर शरीर का उपकार करता है। इस कफ में विकृति आने से कास, श्वास, श्वासनक आदि विकार होते हैं।

पहले कह आये हैं कि दोषों के पांच-पांच भेद विभिन्न स्थलों पर दोषों के प्रकृत-कर्म विशेषतया (Physiological action) देखे जाने से किये गए हैं। तथा एक-एक विशेष स्थल, उन-उन स्थलों पर दोषों के संचय और मूलोच्छेदता को लक्ष्य में रखकर किया गया है। यह वस्तुस्थिति देखते हुए प्रथमोक्त आवरणी कलाओं से स्रुत कफ की क्रिया प्रधानतया प्राकृत-अवस्था में लक्षित होने पर वह 'अवलम्बक कफ' प्रतीत होता है। शेष श्वास-मार्ग तथा प्राणवह-स्रोतों से स्रुत कफ का कार्य विकृत अवस्था में (Pathological condition) ही विशेषतया लक्षित होने से तथा कफ के स्थानों में एक स्थान के रूप में उरःस्थल का निर्देश किया होने से, यह कफ भी अवलम्बक का ही प्रतीत होता है।

चुल्लिका, परिचुल्लिका, तथा थायमस ग्रंथियों का अन्तःस्राव भी स्थान तथा कर्म से अवलम्बक-कफ के अन्तर्गत आता है। पहले कहा जा चुका है कि धातुओं द्वारा रस के उपयोग की क्रिया की परिचुल्लिका ग्रंथि के स्राव पर अवलम्बित है। वहीं यह भी कहा गया है कि चुल्लिका और थायमस-ग्रंथियों के अन्तःस्राव का कार्य—शरीर की वृद्धि और मानस का विकास करना है। परिचुल्लिका के अन्तःस्राव, अस्थियों का पोषण करता है। इनके

स्राव की अतिमात्रा के लक्षण-अवसाद, तन्द्रा आदि वही हैं जो आयुर्वेदोक्त कफ-वृद्धि के; एवं न्यूनता के लक्षण—कम्प, वेष्टन आदि कफ-क्षय और वात की वृद्धि से साम्य रखते हैं। ये तथ्य इन स्रावों के अवलम्बक कफ होने का संकेत करते हैं।

स्वतंत्र नाड़ी-संस्थान के दो भेद हैं। मध्य स्वतन्त्र और परि-स्वतन्त्र। इनमें मध्य स्वतन्त्र के नाड़ी-सूत्रों को उत्तेजित करने से एड्रेनेलीन का स्राव होता है तथा परि-स्वतन्त्र की उत्तेजना से 'एसिटिल कोलीन' नामक स्राव होता है। इस स्राव की क्रिया मध्य-स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल और एड्रेनेलीन की विरोधिनी है। एड्रेनेलीन का स्राव पित्तवर्गीय है, यह हम पहले कह चुके हैं। अतः यह पित्तविरोधी स्राव कफवर्गीय होगा। संक्षेप में इस स्राव का कार्य (अ) हृदय की गति को शान्त करना है, जिससे स्वयं हृदय के अणुओं (Cells) का अपचय न्यून होकर उपचय (पोषण) होता है तथा उसके द्वारा शरीरावयवों को भी उत्तम प्रकार से रस-रक्त और ओषजन की प्राप्ति होती है। (आ) पाचन-संस्थान के समस्त अवयवों आमाशय, उनके कोष्ठ, अग्न्या-शय आदि को उत्तेजित करता है, जिससे पाचन की क्रिया सुव्यव-स्थित रहती है। आयुर्वेद में कहा है कि यह कफ रस के साथ मिलकर हृदय तथा अन्य-अवयवों का अवलम्बन करता है, वह उक्त 'एसिटिल कोलीन' पर पूर्णतया घटित होता है। एड्रेनेलीन को साधक पित्तवर्ग का मानें तो उसके विरोधी एसिटिल कोलीन को अवलम्बक-कफवर्ग का मानना अयुक्तियुक्त नहीं। डहन ने

स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है कि साधकपित्त, हृदयस्थ कफ का निवारण करता है। (सु० सू० २१-१२ पर डल्हन टीका)। आगे वायु-वर्णन में वायु को योगवाही कहा है। कफ तथा पित्त से प्रभावित होता, तथा उनके कर्मों को ग्रहण करता है। यह सिद्धान्त नाड़ी-संस्थान के एड्रेनेलीन तथा एसिटिल कोलीन नामक स्रावों से प्रभावित होने की ओर स्पष्ट संकेत करता है। इस कारण से भी एसिटिल कोलीन को कफवर्गीय मानना युक्ति-युक्त होगा।

बोधक-कफ

यह जिह्वा के मूल में रहता है। इसके द्वारा जिह्वा रसों का ठीक-ठीक ज्ञान (बोध) प्राप्त करता है। रसों के बोध (ज्ञान) में सहायक होने से इसका नाम बोधक है। लाला-रस ही बोधक कफ है। यह अधिकांश पदार्थों को अपने अन्दर घोल लेता है; विलीन अवस्था में (पदार्थों के घुल जाने पर) ही उसके रसों का ज्ञान होता है[1]। लाला ग्रंथियाँ यद्यपि मुख की दीवारों में विभिन्न स्थानों पर स्थित होती हैं तथा उनसे स्रुत लालारस समस्त मुख में व्याप्त होता है, तथापि उसके कारण ही रस का बोध जिह्वा के मूल में स्थित स्वादांकुरों को विशेष होता है; अतः कफ का स्थान जिह्वा का मूल कहना युक्तियुक्त है। लालारस मुख को

१—"It desolves most substances, thus enabling to taste them. (Human Physiology P. 129).

आर्द्र रखता है, जिससे वाणी की क्रिया में भी सौकर्य्य होता है। लालारस के शेष कर्म आहार के परिपाक में सहायक होता है।

लाला-रसगत पाचक-पित्त (टायलीन) के अतिरिक्त जल तथा कफ नामक पिच्छिल-द्रव्य ही आयुर्वेद का 'बोधक कफ' है। वह मुख की कला में स्थित कफ-ग्रंथियों (Mucous glands) द्वारा निर्मित होता है। आयुर्वेद संहिताओं में "द्वौ श्लेष्म-भुवौ' (च० शा० ७-१) तथा इसकी टीका में चक्रपाणि ने—"श्लेष्मभुवौ—कण्ठस्य पार्श्वयोर्व्यवस्थितौ कठिनौ भागौ"—अर्थात् गले के किनारे स्थित दो कठिन अवयव श्लेष्मभू (श्लेष्मोत्पादक) नाम के बताये हैं। ये आधुनिक 'टौन्सील' प्रतीत होते हैं। आयुर्वेद में इसे उपजिह्विका कहा है जो चिन्त्य है। इनका स्राव भी कफवर्गीय द्रव्य है।

रसज्ञान

रसों का ज्ञान मुख्यतया जिह्वा से तथा अंशतः तालु और गल से होता है। जिह्वा की कला में दानेदार उभार होते हैं। इनके अन्तर्भाग में छोटे-छोटे अण्डाकार दाने होते हैं। इन दानों को 'स्वादांकुर' (Taste buds) कहते हैं। स्वादांकुरों में रस-ग्राहिका-नाड़ियों (मुख्यतः नवम शीर्षण्य नाड़ी) के सूत्र व्याप्त होते हैं। जिह्वा के पश्चिम भाग में ये दाने विशेष उभरे हुए तथा अंग्रेजी अक्षर V के आकार में ग्रथित होते हैं। रसों का आस्वाद इसस्थल पर विशेष होता है।

रसों का ज्ञान जिह्वा तथा तालु के अमुक स्थलों पर

विशेष होता है। मधुर-रस जिह्वा के अग्र पर, तिक्त-रस पश्चिम भाग पर तथा अम्ल का किनारों पर विशेष अनुभव होता है। आधुनिक वैज्ञानिक चार ही रस मानते हैं। मधुर, तिक्त, अम्ल, और लवण। रसज्ञान के लिए पदार्थों का घुल कर, चूसा जाकर स्वादांकुरों के सन्निकर्ष में आना आवश्यक है। यह क्रिया लालागत बोधक कफ से होती है।

तर्पक-कफ

यह सिर में रहता है। इसका कार्य मस्तिष्क का संतर्पण अर्थात् निरन्तर मस्तिष्क के पोषण-द्रव्यों का प्रस्तुत करना है। इस प्रकार यह मस्तिकास्थि, श्रोत्र, जिह्वा, चक्षु, त्वचा और घ्राण इन्द्रियों के केन्द्रों को पुष्ट कर उन्हें अपने-अपने कर्मों को यथावत् करने का सामर्थ्य प्रदान करता है।

पाश्चात्य शरीर - क्रियाविज्ञान में जिसे 'सेरिब्रोस्पाइनल' फ्लुइड" (Cerebro-spinal fluid) कहा जाता है, वह आयुर्वेद का तर्पक-कफ है। मस्तिष्क के प्रत्येक गोलार्द्ध के अन्दर एक-एक गुहा होती है। दोनों गोलार्द्धों की मध्य-रेखा पर एक तीसरी गुहा होती है। गोलार्धों की गुहाएँ मध्यवर्ती गुहा में खुलती हैं। एक चौथी गुहा होती है, जो मस्तिष्क के अधोभाग में; सुषुम्नाशीर्षक और उष्णीषक के पृष्ठभाग पर स्थित होती है। पूर्वोक्त तीसरीगुहा (3rd ventricle) इसमें खुलती है। चौथी गुहा (4th ventricle) सुषुम्ना काण्ड के मध्य में स्थित

प्रणाली (Central canal of the spinal cord) में खुलती है।

मस्तिष्क तथा सुषुम्नाकाण्ड तीन कलाओं से (Mininges) आवृत्त होते हैं। ऊपर कही तृतीय गुहा का सम्बन्ध कुछ छिद्रों द्वारा सबसे अन्दर की कला (वृत्ति) से होता है। पूर्वोक्त चारों गुहाएँ सुषुम्ना-काण्ड का मध्य-विवर तथा अवयवों सहित मस्तिष्क और सुषुम्ना-काण्ड की भीतर से पहली और दूसरी वृत्तियों का अन्तराल—इन सब परस्पर सन्बन्ध अवकाशों में सर्वदा एक द्रव रहता है। यही द्रव उक्त सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड है। (गर्दन-तोड़ बुखार—Meningetis में मस्तिष्क और सुषुम्ना की इन्हीं कलाओं में शोथ हो जाता है)। इसका प्रधान कार्य हृदय आदि की कलाओं के समान मस्तिष्क को आघात-प्रतिघातों से बचाना है। भौतिक नियमों के अनुसार यह द्रव आघातों के वेग को अपने ऊपर ले लेता है। इसका दूसरा कार्य नाड़ी-संस्थान को पोषण-द्रव प्रदान करना अर्थात् संतर्पण है[1]। इसीसे हमने इसे आयुर्वेद का 'तर्पक' कफ कहा है। यह सर्वदा स्रुत होता तथा चूसा जाता रहता है। इसका प्रमाण कोई १५० घन सेन्टीमीटर होता है।

१—"Cerebrospinal fluid is said to act as a fluid buffer, to prevent jarring of the nervous system consequent on voilent movements of the body, to keep a constant volume of the cranial contents and to act as a nutrent medicine for the nervous system.

(Human Physiology, P. 231)

चरक ने कफ के कर्म सामान्यतया निर्देश करते हुए जो ज्ञान, विवेक, क्षमा, धृति आदि कर्म कहे हैं; वे सब उक्त तर्पक कफ के ही हैं। नाड़ीसंस्थान को प्रतिक्षण पोषक-द्रव्य मिलते रहने से ही मानसिक शान्ति, विवेक आदि कर्म सम्भव है, अन्यथा नहीं। यद्यपि नाड़ीसंस्थान का पोषण रक्त द्वारा भी होता है, पर सर्वाङ्ग के पोषक होने से उसका स्वतन्त्र-धातु के रूप में परिगणन है; स्थान और कर्म के भेद से केवल तर्पक कफ का ही सिर के तर्पकता के रूप में उल्लेख हुआ है।

इस प्रसङ्ग में उन कफों का भी स्मरण करना चाहिये जो नासिका, नेत्र और कर्ण की श्लेष्म-कला से स्रुत होता रहता है और उन अवयवों को स्निग्ध तथा रोग जन्तुओं से सुरक्षित रखता है। ये सभी तर्पण करने से तर्पक-कफ के ही अन्तर्गत आते हैं।

श्लेषक-कफ

अस्थियों के परस्पर जुड़े हुए (सन्धियुक्त) सिरे एक कला से आवृत्त होते हैं। इसे 'श्लेष्मधरा कला' Synovial membrane कहते हैं। इस कला से एक चिकना-सा स्राव होता है, जिसके कारण कर्मावस्था में अस्थियों में रगड़ या रुकावट नहीं होती। यह स्राव 'श्लेषक कफ' (Synovea) कहलाता है। सदा चलनेवाले तथा घूमनेवाले पहिये और धूरी में तेल लगाने से जो फल होता है, वही सन्धियों में श्लेषक-कफ के रहने से होता है। इन स्थानों के अतिरिक्त श्लेष्मा प्रत्येक कला के पृष्ठपर रहता है तथा

उसे आर्द्र और स्वकायक्षम बनाए रखता है; यह कलाओं के लक्षण से स्पष्ट है। देहाणुगत अणु-श्लेष्मा भी कफ है।

कला

त्वचा जिस प्रकार शरीर को बाहर से आवृत्त किये रहती है वैसे ही 'कला' शरीर के अन्तर्गत धातुओं को (दोष, धातु और मलों को) आवृत्त किये रहती है।

"कलाः खल्वपि सप्त भवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः।

सु० शा० ४-५

"यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते।
तथा हि धातुमांसेषु छिद्यमानेषु दृश्यते॥
स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् संततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणावेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तुतान्विदुः॥"

सु० शा० ४

अर्थात् कलाएँ सात होती हैं। ये दोषों, धातुओं और मलों के आशयों (स्थलों) के मध्य में सीमा रूप में रहती हैं। काष्ठों के छिलने पर जैसे उनके अन्दर सार (अन्तःवर्ती भाग) दीख पड़ता है, वैसे ही कलाओं के हटाने पर उनके अन्तःवर्ती धातु दीख पड़ते हैं। ये कलाएँ स्नायुओं (सूत्रों) से बनी हुई जरायु (गर्भावरण) के समान स्वरूपवाली (सूक्ष्म जालरूप) तथा 'श्लेष्मा' से वेष्टित (व्याप्त) होती हैं।

कलाएँ श्लेष्मा से वेष्टित होती हैं। श्लेष्मा का प्रधान कार्य

विशेष कर 'श्लेषक' का श्लेषण अर्थात् परस्पर मिलाकर रखना और उन्हें स्निग्ध रखना है। अतः कलाओं में व्याप्त 'श्लेष्मा' को श्लेषक कफ ही कहना उपयुक्त है।

आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान में तो सर्वत्र 'कला' का प्रतिशब्द प्रायः (Mucous membrane) म्युकस मेम्बरेन प्रयुक्त हुआ है। कोई-कोई इसे स्पष्ट करने के लिये श्लेष्म-कला भी कहे हैं। यूँ तो म्युकस मेम्बरेन तीन प्रकार की कलाओं में तृतीय भेद है। घाणेकरजी ने इन्हें (Fibrous) फाइब्रस, (Serous) सीरस तथा (Mucous) म्युकस करके इनके तीन भेदों का उल्लेख किया है। कारण विद्वानों का मत है कि संहिता-ग्रन्थों में इस लक्षण के आगे दी सात कलाएँ उदाहरण रूप हैं; परिसंख्यान नहीं हैं। कारण, इस श्रेणी में अस्थि, मूत्र, मज्जा, फुफ्फुस आदि की आवरक कलाएँ भी हैं जिनका निर्देश नहीं है। अतः 'सात' उपलक्षण मात्र हैं।

कफ तथा ओज

"प्राकृतस्तु बलंश्लेष्मा, × × ×।
स चैवौजः स्मृतः काये × × ॥"

च० सू० १७

"बलं ह्यलं निग्रहाय दोषणाम् ॥" च० वि० ३

"ते च दोषाः समा अप्योजसा विहीनं देहं संबाहयितुमशक्ताः"

अ०सं० सू० १९ पर —इन्दु

"रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात् ॥" सु० सू० १५-१९

"यस्माद्रसादोजो भवति स रसः सर्वधातु स्थानगतत्वात् तत्तद्-धातुवन्मन्यत इति सर्वधातूनां स्नेहओजः क्षीरे घृतमिव।" भाव प्रकाश

"तदेव सर्वान् धातूननुप्रविष्टं तेषां प्रभावातिशयमादधानं तत्तेज उच्यते ॥" अ० हृ० सू० ११-३७ पर —हेमाद्रि

"येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वदेहिनः।
यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥
यत् सारमादौगर्भस्य यत् तद् गर्भरसाद्रसः।
संवर्त्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा ॥
यस्य नाशात्तु नाशोस्ति धारि यद् हृदयाश्रितम्।
यच्छरीर रसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ॥"

च० सू० ३०

"प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम्।"

च० सू० १७

"शुक्र शोणित संसर्गात् प्रभृति शरीरमधितिष्ठते स्वकर्मणा तदोजः।" सु० सू० १५-० पर —चक्रपाणि

"ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थिति निबन्धनम् ॥

यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति ।
निष्पद्यन्ते यतोभावा विविधा देहसंश्रयाः ॥"

अ० हृ० सू०११

"देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम् ।
तदभावाच्च शर्य्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥"

सु० सू० १५-१८

"रस धातोः परं धाम पच्यमानात् प्रसीदति ।
सौम्य स्वभावं रक्ताग्ने यत्तदोजः प्रकीर्तितम् ॥"

—खरनाद

"भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संहियते मधु ।
तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संहियते नृणाम् ॥"

च० सू० १७

'शरीरेभ्य इति धातुभ्यः ।' —चक्रपाणि

अर्थात् प्राकृत-श्लेष्मा को बल कहते हैं। शरीर में उसी को 'ओज' कहा गया है। 'बल' विकारों को रोकने में समर्थ होता है। वात, पित्त, कफ (शरीर के मूलोपादान होते हुए तथा) साम्यावस्था में रहने पर भी ओज से रहित होने पर शरीर के योग-क्षेम में समर्थ नहीं होते। अर्थात् अकिञ्चित् कर होते हैं। रस से लेकर शुक्र तक अर्थात् सप्तधातुओं का जो उत्कृष्टतेज-रूप स्नेह होता है, वह 'ओज' कहलाता है और उसीको 'बल' भी कहते हैं।

जिस रस से ओज उत्पन्न होता है, वह रस सर्व धातुस्थान गामी होने से उन-उन धातुओं के सदृश माने जाने के कारण, सब धातुओं का स्नेहांश दूध में घी के समान 'ओज' होता है। वही ओज सर्व धातुओं में प्रविष्ट होकर उनके प्रभाव में अतिवृद्धि कर वह उसका 'तेज' कहलाता है। जिस ओज के शरीर में रहने से सब देहधारी प्रसन्न रहते हैं और जिसके बिना प्राणियों का जीवन नहीं टिक सकता ; जो गर्भ का आदि सार है ; जो कलल-स्वरूप गर्भरस से रस (सार) बनता है और जो चक्कर लगाता हुआ पूर्व हृदय में प्रवेश करता है ; जिसके नाश से शरीर का नाश होता है ; जो हृदय में आश्रित हुआ जीवन-धारण करनेवाला है ; और शरीर के रस का स्नेह है ; जिसमें प्राण प्रतिष्ठित है। शरीरधारियों के शरीर में सर्वप्रथम यही (ओज) उत्पन्न होता है।

शुक्र शोणित के संसर्ग से शरीर बनने पर्यन्त जो अपने कर्म से उसे धारण करता है वही ओज है। शुक्र पर्यन्त धातुओं का उत्कृष्ट तेज, ओज कहलाता है—जो हृदय में रहते हुए भी सम्पूर्ण शरीर-व्यापी होकर देह की स्थिति को बनाए रखता है, जिसके नाश होने से शरीर का नाश नियत है और जिसके रहने से शरीर की स्थिति रहती है और जिससे देह से सम्बन्ध रखनेवाले सभी भाव निष्पन्न होते हैं। यह अवयववाला शरीर जिससे व्याप्त रहता है और जिसके अभाव में यह शरीर नष्ट होने लगता है। रस धातु के पाक से रक्त की उत्पत्ति के भी पूर्व उसके सौम्य-अंश

'ओज' की उत्पत्ति होती है। भ्रमर जिस प्रकार फलों और पुष्पों से कण-कण करके मधुका आहरण करता है, वैसे ही शरीरावयव—रस धातु से ओज का आहरण करते हैं (और भ्रमरों के समान अपने बल और पुष्टि कर्म में उसका व्यवहार करते हैं)।

उपर्युक्त वर्णन में 'ओज' को प्रकृत-कफ, तथा बल कहा है और रसादि धातुओं का उत्कृष्ट तेज तथा स्नेह निर्देश किया है। यहां ओज को 'बल' कार्य-कारणभाव से कहा गया है। वस्तुतः ओज कारण है और 'बल' उसका कार्य है। परन्तु सर्वोपरि कारण होने से अभेद लक्षण से ओज ही को बल कहते हैं। ओज और बल का यह अभेद सम्बन्ध, चिकित्सा में ऐक्य के लिये प्रतिपादित हुआ है। परमार्थतः बल और ओज भिन्न है। क्योंकि इनका पृथक् वर्णन मिलता है। साथ ही 'बल' नामक कोई द्रव्य की स्थिति शरीर में नहीं है। यह तो द्रव्य विशेष के कार्य का फल मात्र है। इसीसे ओज के रूप-रस-वर्ण आदि का वर्णन मिलता है, परन्तु बल का रूप, रस आदि नहीं प्रतिपादित हुआ है।

'प्रकृत-कफ ही ओज है, यह विषय चिन्त्य है। ओज के गुण कर्म, प्रकृत कफ के स्वरूप, गुण तथा कर्म से साम्य रखता है जैसे—ओज का स्वरूप—

"ओजःसोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरम् सरम्।
विविक्तं मृदुमृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्॥ सु० सू० १५

ओज के गुण

"गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम् ।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजे दश गुणं स्मृतम् ॥

च० चि० २४

ओज के कर्म

शरीरस्थ धातुओं को कार्यक्षम बनाना, उनके अन्दर प्रविष्ट हो उनकी शक्ति को बढ़ाना, देहियों के प्रत्येक अवयव को तृप्त करना, धातुओं में स्थिरता तथा उपचय देना, कायिक, वाचिक मानसिक—समस्त व्यापारों को अप्रतिहत रूप से सम्पन्न कराना, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा मन, बुद्धि और अहंकार, इन बाह्य तथा अन्तरेन्द्रियों को अपने-अपने कार्य के अनुष्ठान में सामर्थ्य प्रदान करना, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों में स्थिरता को उत्पन्न करना स्वर और वर्ण को परिष्कृत रखना, रोग तथा उनके कारण भूत द्रव्यों का प्रतिबन्धक होना, ये सब कर्म ओज के हैं। संक्षेप में 'ओज' प्राणों का आयतन (आधार) कहा गया है।

उपर्युक्त ओज के स्वरूप, गुण तथा कर्म प्रकृत-कफ के गुण कर्म से साम्य रखते हैं, अत: 'ओज' कफ वर्ग का कोई विशिष्ट एवं उत्कृष्ट द्रव्य है, ऐसा प्रतीत होता है। ओज का स्थान हृदय तथा सर्वशारीर-धातु कहा गया है। ओज के दश गुण—(गुरु-शीत मृदु, श्लक्ष्ण, बहल, मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल, स्निग्ध) प्रकृत कफ के ही गुण हैं। शरीर में जितने द्रव्य हैं, वे सौम्य, आग्नेय

तथा वायव्य करके तीन विभागों में विभक्त किये गए हैं। सौम्य गुणवाले द्रव्य कफ वर्ग के, आग्नेय पित्त वर्ग के तथा वायव्य वात वर्ग के द्रव्य हैं। ओज सौम्य होने से कफ वर्ग का ही द्रव्य हो सकता है। अतः ओज को प्राकृत-कफ कहना युक्ति-युक्त है।

ओज के प्रकार

ओज दो प्रकार का होता है। (१) पर ओज तथा (२) अपर ओज।

पर ओज का स्थान—

"तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्य संग्रहः।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः॥
तेन मूलेन महता महामूला मता दश।
ओजोवहाशरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः।
तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीति महाफलाः॥

च० सू० ३०

(सर्व व्यापी होने पर भी) पर 'ओज' का विशेष स्थान हृदय है। हृदय से निकलनेवाली दस धमनियों और उनके असंख्य प्रतानों (शाखा-प्रशाखाओं) द्वारा वह सर्वाङ्ग में प्रसृत किया जाता है; उक्त गुणशाली होने से 'ओज' को 'महत्' भी कहते हैं, और धमनियों को महाफला कहा है। ओज के संसर्ग से हृदय भी महत् कहलाता है।

हृदय में रहनेवाला ओज ईषत् पीत तथा ईषत् लाल वर्णवाला होता है, ऐसा कहा है। उसमें लाजा के तुल्य गंध होती है। पर (प्रधान[1]) ओज का प्रमाण ग्रन्थान्तरों में आठ-बिन्दु कहा है। अपर (अप्रधान) ओज का प्रमाण 'अर्धाञ्जलि' (८ तोला) कहा है। ओजक्षय के परिणाम में जहां मृत्यु कहा है, वहां, पर (प्रधान) ओज का ग्रहण करना चाहिये, जिसका अल्पमात्र क्षय भी चिन्ताजनक होता है। "विभेति दुर्बलः" इत्यादि में तथा मधुमेह में जो ओजक्षय कहा है, वह अपर (अप्रधान) ओज का लक्षण है। क्योंकि मधुमेह में प्रभूत ओजक्षय होने पर भी मनुष्य जीता रहता है। कहीं-कहीं ओज शब्द से उभय विध ओजों का ग्रहण होता है—जैसे 'येनौजसा वर्तयन्ति' पर चक्रपाणि ने—येनौजसेति सामान्येन द्विविधमप्योजोग्राह्यम्।' ऐसी टीका की है।

उपर्युक्त वर्णनों (शास्त्र) में ओज शब्द निम्न द्रव्यों के लिये आया है :—

(१) अष्ट-बिन्दु परिमिति सर्वधातुओं का सार।

(२) रस धातु।

(३) रुधिर।

(४) शक्ति-उत्पादन तत्त्व (ग्लाइकोजन)।

(५) शरीरोष्मा।

१—"रस धात्वादि मार्गाणां सत्व बुद्धीन्द्रियात्मनाम्।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते।" इसमें प्रधान शब्द का उपयोग हुआ है।

(६) शुक्रसार।

(७) प्रकृत-कफ।

(८) शुक्र।

उक्त ओज के विविध-रूप में रुधिर के अतिरिक्त, शेष सब द्रव्य श्लेष्मा या कफ वर्ग के अन्तर्गत हैं। रुधिर में रस-धातु की अपेक्षा रञ्जक-पित्त (होमोग्लोबीन किंवा रक्तकण) विशेष होने से उसकी गणना पित्त वर्ग में है। अथवा रुधिर के रञ्जक-पित्त के अतिरिक्त शेष केवल रसतुल्य होने से उस अंश की कफ में गणना की जा सकती है।

पूर्वोक्त "प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा" तथा "सचैवौजः स्मृतः काये" में 'च' और 'एव' पदों द्वारा भार देकर जताया गया है, कि ओज प्रकृतिभूत-श्लेष्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जो श्लेष्मा है वही ओज है। और श्लेष्मा जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में प्रतिपादित कर आये हैं, अनेक सौम्य द्रव्यों के वर्ग का बोधक है। तथापि जैसे तैल, घृत, मेद, वसा, मज्जा, और मस्तिष्क स्नेह रूप से एक होते हुए भी स्थान और कर्म-भेद से भिन्न कहे जाते हैं, वैसे ही कफ जातीय द्रव्य बल, वर्ण और उपचय की शरीर में उत्पादकता तथा स्वयं शीत-मधुर द्रव्यों से उत्पद्यमानता इन गुणों के कारण कफ रूप में एक होते हुए भी स्थान और कर्म के भेदवश अलग-अलग वर्णित हैं।

इसी प्रकार कफ जातीय द्रव्यों के अन्तर्गत एक उपवर्ग का नाम 'ओज' है, जिसमें पूर्वोक्त सर्वधातुस्नेह, रसधातु प्रभृति

आठों का अन्तर्भाव है। इनमें भी रस-धातु, रुधिर, शरीरोष्मा, शुक्रसार, शुक्र तथा कफ के कहे गये अवलम्बक प्रभृति भेदों का शास्त्र में पृथक् अपने-अपने नामों से वर्णन है। अतः पूर्वकथित साम्य के कारण शास्त्रों में इन्हें स्पष्ट ही ओज कहने पर भी वास्तविक ओज नाम दो ही द्रव्यों का रह जाता है, जिसे चक्रपाणि ने पर तथा अपर ओज से संज्ञित किया है। इन में अपर ओज आधुनिक शरीरक्रिया विज्ञान की दृष्टि से दो द्रव्यों को कह सकते हैं। जिस ओज के कर्म में शरीर-धातुओं को शक्ति प्रदान करना कहा है तथा जिसके क्षय का परिणाम उक्त शक्ति का अभाव हो वहाँ ओज शब्द से ग्लाइकोजन किंवा द्राक्षाशर्करा (Glucose) समझना चाहिये और जिसका कार्य शरीरधातुओं की पुष्टि तथा निर्माण कहा हो और जिसके क्षय में धातुओं का दौर्बल्य तथा शरीर का कृश होना कहा हो, वहाँ ओज शब्द से अल्ब्यूमेन का ग्रहण करना युक्तियुक्त होगा। चक्रपाणि ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है (च० सू० ३०) कि जो ओज मधुमेह में मूत्रमाग से निकला करता है वही 'अपर ओज' है और उसी का प्रमाण अधोऽञ्जली आचार्यों ने कहा है। मूत्र मार्ग से शरीर का उपादेय पदार्थ उक्त दोनों (ग्लुकोज और अल्ब्यूमेन) निकलता है। अञ्जली निर्देश्य प्रकरण (च० शा० ७-१५) में इस ओज का श्लेष्मा विशेषण देकर भी श्लेष्मा से पृथक् उसका परिणाम बताया है। उसका अभिप्राय यह है कि अपर ओज श्लेष्मा का भेद होते हुए भी शास्त्र में पृथक वर्णित है।

ओज की पृथक् गणना का कारण

"यद्यप्योजः सप्तधातुसार रूपं, तेन धातुग्रहणेनैव लभ्यते, तथापि प्राणधारण कर्तृत्वेन पृथक् पठितम् ।।"

च० सू० २८-४ पर —चक्रपाणि

अर्थात् ओज रसादि सप्तधातुओं में रहनेवाला उनका उत्कृष्ट अंश होने से उनके ग्रहण से गृहीत हो सकता था ; तथापि प्राणधारण रूप विशेष कर्म होने से शास्त्र में उसका पृथक् निर्देश किया जाता है ।

आधुनिक क्रियाशारीर में ग्लाइकोजन का प्रमाण सम्पूण शरीर में एक प्रतिशत कहा गया है । यह राशि मुख्यतः यकृत में तथा उससे दूसरे दर्जे में मांस-पेशियों में और यत्किञ्चित् अन्य शरीरावयवों में रहा करती है । अल्ब्यूमेन का अंश १६ प्रतिशत के लगभग होता है । शरीर में इस का प्रयोजन तथा मधुमेह में इसकी क्षीणता से होनेवाले मरण पर्यन्त विकारों का अनुशीलन करने से विदित होगा कि आयुर्वेद में वर्णित इसकी महिमा कितना सत्य एवं यथार्थ है ।

पर तथा अपर ओज (उभयविध) की उप-धातुओं में गणना है, धातुओं में नहीं । इसका हेतु बताते हुए चक्रपाणि दत्त ने कहा है—"एतच्चौजः उप-धातुरूपं केचिदाहुः ; धातुर्हि धारण; पोषण-योगाद् भवति, ओजस्तु देहधारकंसदपि न देह पोषकं तेन नाष्टमो धातुरोजः ।।" धातु शब्द 'धा' (डुधाञ्) धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ धारण तथा पोषण करना है । शरीर में जो द्रव्य

धारण और पोषण—उभय कर्म करे उसे धातु कहा जाता है। ओज शरीर का धारण तो करता है पर पोषण नहीं करता अतः वह धातु नहीं है। धातुओं के कारण गुण-साम्य होने से इसे उप-धातु कहा है।

पर (प्रधान) ओज

आधुनिक विचार से पर-ओज क्या है, यह विवेचनीय है। प्रत्यक्ष-शारीर तृतीय भाग में पोषणिका ग्रंथि (Pituitary sland) के अन्तः स्राव का वर्णन करते समय महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती ने कहा है—"सम्यग्विदार्य परीक्षितं च तदभ्यन्तरं पिच्छिल वस्तुगर्भान् कोषान् प्रकटीकरोति, तेभ्यश्च कोषेभ्यः स्रवति सूक्ष्मो रसः सुधा सदृशः। तस्यैः सूक्ष्मैः सिराजालकैः शोणित स्रोतसि प्रवेशः सर्वधातुपोषणाय। अतएवास्य 'सुधा-स्रावीसोममण्डलम्' इति योगिनां व्यपदेशः। प्राचां 'ओजः' संज्ञः पदार्थश्च स एव प्रतिभाति।" अर्थात् पोषणिका-ग्रंथि से अमृत सदृश सर्व-धातु पोषक अन्तः स्राव हुआ करता है। अतएव इस ग्रंथि को योगियों ने अमृतस्राव करनेवाला 'चन्द्रमण्डल' कहा है। आयुर्वेद का 'ओज' यही प्रतीत होता है।

इस वर्णन के साथ हम पूर्ण सहमत इसलिये नहीं हैं कि, यद्यपि ओज के गुण-कर्मों से उक्त ग्रन्थि के अन्तःस्राव का गुणकर्म साम्य रखता है तथापि ओज के स्थान तथा वर्ण का वर्णन इससे मेल नहीं खाता। पर-ओज का स्थान हृदय कहा है और उसका

वर्ण ईषत् पीत तथा ईषत् रक्त कहा है। पोषणिका स्थान सिर के अधोभाग में जतुकास्थि के गर्त में है। पोषणिका का स्राव भी उक्त ओज के वर्ण का नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है, कि उक्त ग्रंथि का अन्तःस्राव भी पर-ओज से साम्य रखनेवाला वस्तु है। उक्त स्राव को ओजोवर्ग का द्रव्य मानने में कोई विरोध नहीं होता है; अतः ओजोवर्ग का वह द्रव्य है; क्योंकि ओज के गुण-कर्म उसके अन्दर रहता है। द्रव्यों का नाम उसके गुण-कर्म के अनुरूप ही प्रायः होता है।

ओज शब्द का अर्थ कोषों में निम्न प्रकार से मिलता है—

"ओज-बले-अद०, चुरा०, उभ० अक० सेट।" (शब्दस्तोम)

"ओजस्—नं०-उब्ज-असुन्-बलोये गुणः। दीप्तौ, प्राणबले, प्रकाशे, सामर्थ्ये, धातुतेजसि, वैद्योक्ते धातुरस पोषके, वस्तुभेदे इत्यादि।

मन की प्रसन्नता ओजोवृद्धि का मुख्य कारण है। अतः सर्वदा मनोऽनुकूल, सुखप्रद आहार-विहार का प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये। मन की प्रसन्नता, निर्द्वन्द्वता (सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंसे क्षुभित न होना) से सिद्ध हो सकती है। निर्द्वन्द्वता की प्राप्ति का उपाय प्रशम (शान्ति) और तत्त्वज्ञान है। मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, लघु तथा हितकर आहार ओजोवर्धक है। मन की प्रसन्नता उत्पन्न कर ये परम्परया भी ओज की वृद्धि करते हैं।

व्यापक अर्थ में ओज शब्द

पहले कह आये हैं कि ओज शब्द का बल के अर्थ में कार्य-कारण भाव से प्रयोग हुआ है। 'बल' रोगों को रोकने के लिये प्रबल (अलं) माना गया है। जैसे "बलं ह्यलं निग्रहाय रोगाणाम्"। अतः शरीर के अन्दर रोगों के प्रतिबन्धक जो-जो तत्त्व हैं, उन पर विचार करने से इस विषय पर अधिक प्रकाश प्राप्त होगा।

क्षमता (शरीर की रोगप्रतिबन्धक शक्ति)—हम सदा अनेक विघ्न-बाधाओं से घिरे रहते हैं। हमारे चतुर्दिक् अनेक विघ्नकारी रोग-जीवाणु जैसे—राजयक्ष्मा, आन्त्रज्वर, श्वसनकज्वर आदि के निमित्तभूत असंख्य जीवाणु (Bacterium) व्याप्त हैं, और श्वासादि शरीर-क्रियाओं द्वारा हम उन्हें अन्दर प्रविष्ट करते हैं। फिर भी हम सर्वदा उन रोगों से आक्रान्त नहीं रहते। अतः इस सत्य घटना से हमें एक ऐसे तत्त्व की उपस्थिति का, शरीर के अन्दर संकेत मिलता है जो हमें इन आपदाओं से सुरक्षित रखती है। परीक्षणों से पता चला है कि रस तथा रुधिर में इनको तथा इनके विषों को नष्ट करने की शक्ति होती है, जिससे शरीर इन जीवाणुओं से उत्पन्न होनेवाले रोगों से सुरक्षित रहता है। इस स्वाभाविक शक्ति का नाम आधुनिक वैज्ञानिकों ने 'क्षमता' (Immunity) रखा है।

शरीर में जीवाणुओं का प्रतिरोध अनेक प्रकार से होता है। इनमें मुख्य प्रकार जीवाणुओं का साक्षात 'कवलन' (Phago-

cytosis) है। रुधिर में 'ल्युकोसाइट' नाम के जो श्वेत कणिका या क्षत्रकण हैं; वे जीवाणुओं का ग्रासकर उन्हें नष्ट किया करते हैं। अतएव जीवाणुजन्य कई रोगों में इनकी संख्या (उक्त कार्य के लिये) रुधिर में प्रभूत हो जाती है। यह ल्युकोसाइट आयुर्वेदानुसार कफ-वर्ग का द्रव्य है।

क्षत्रकणों का कार्य जीवाणुओं का भक्षण तथा संहार करना है। इस उद्देश्य से, जीवाणुओं के निकट आने पर उनके ग्रास के लिये क्षत्रकणों में शुण्डिकाएँ निकल आती हैं। जीवाणु के शुण्डिकाओं के मध्य में आने पर उनके शिखर परस्पर मिल जाते हैं और क्षत्रकण के शरीर का शेष-अंश भी सरक कर शुण्डिकाओं से मिल जाता है। इस प्रकार क्षत्रकणों में स्वतन्त्र 'सर्पण' भी (Amœboid movement) होता है। उनकी आकृति भी इसी कारण प्रतिक्षण बदलती रहती है। सामान्यतः ये किञ्चित् वृत्ताकार (गोलाकार) होते हैं।

जीवाणुजन्य अनेक रोगों में (विद्रधि, न्युमोनिया आदि) रोगानुसार रक्त में तत्-तत् क्षत्रकणों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। यह वृद्धि अणुवीक्षण द्वारा जानी जा सकती है। उक्त रोगों (जीवाणुजन्य रोगों) के निदान में इससे बड़ी सहायता मिलती है।

यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि उक्त क्षत्रकण (ल्यूकोसाइट) अकारण ही जीवाणुओं के कवलन के लिये उत्सुक नहीं होते। परीक्षणों से सिद्ध हुआ है कि रुधिर किसी अज्ञात

सूत्र से इन जीवाणुओं को स्वादु बना देता है, जिससे ल्युकोसाइट सहज ही इनकी ओर आकृष्ट होते हैं। रुधिर की यह क्रिया 'कल्पन' (Opsosin) कहलाती है। जिस मनुष्य के रुधिर में यह कल्पन-शक्ति जितनी अधिक होगी, उसके क्षत्रकण की कवलन-क्रिया उतनी ही प्रभूत होगी। परिणामतया वह जीवाणुओं के आक्रमण से उतना ही सुरक्षित रहेगा। यह शक्ति उत्तम आहार-विहार से और शुद्ध वायु से उपलब्ध होती है। आधुनिक विज्ञान ने कृत्रिम कल्पन का आविष्कार किया है, जिसको सूची द्वारा प्रवेश कराकर शरीरस्थ रक्त के कल्पन-शक्ति को बढ़ाया जाता है। जीवनीय-युक्त आहारों का सेवन क्षमता की स्थिरता और वृद्धि के लिये उत्तम है।

रक्त के द्रवभाग में भी जीवाणुओं के संहार की शक्ति है। इसमें स्थित जो द्रव जीवाणुओं का संहार करते हैं उनका नाम 'जीवाणुसूदन' (Bacteriolysins) है। इनका स्वरूप तथा मूल अभी तक विदित नहीं हो सका है। आयुर्वेदानुसार द्रव तथा जलीय-द्रव्य होने से यह भी कफ-वर्ग का द्रव्य है। जीवाणुओं से शरीर में जो विकार होते हैं उनका बड़ा कारण जीवाणुों द्वारा उत्सर्जित विष का रक्त में प्रवेश तथा मिश्रण है। इन्हें निष्क्रिय करने के लिये रुधिर 'प्रतिविष' (Antibotrin) उत्पन्न करता है। जिस प्रकार क्षार के संसर्ग से अम्ल उदासीन हो जाता है, उसी प्रकार उक्त प्रतिविषके प्रभाव से जीवाणुओं द्वारा उत्सर्जित रक्तगत-विष भी उदासीन तथा निर्वीर्य हो जाता है।

जीवाणुओं के प्रतिरोध का अन्य साधन रुधिर की 'समशनी शक्ति' (Agglutinating power) है। जीवाणुओं का प्रवेश होने पर रुधिर में 'समशन' (Agglutinins) नामक द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनके समागम से जीवाणु गतिशून्य होकर एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं।

ल्युकोसाइट के अतिरिक्त रुधिर के लिम्फोसाइट नामक श्वेतकण भी जीवाणुओं के प्रतिरोध का कार्य करते हैं। इनकी उत्पत्ति रस-ग्रंथियों, टौन्सिलों, पच्यमानाशय के अन्त में स्थित 'पेयर्स पैचेज' नामक ग्रंथिसमूह तथा प्लीहा से होती है। अनेक रोगों में इनकी संख्या कई गुणा बढ़ जाती है। अणुवीक्षण द्वारा जानी हुई इनकी वृद्धि उन रोगों के निदान में सहायक होती है।

रस-ग्रन्थियाँ

रक्ताशय की ओर जाती हुई रासायिनियाँ, रसग्रंथियों में होकर जाती हैं। ग्रंथियाँ भांग के बीज से लेकर मटर के दाने जितने प्रमाण तक की होती हैं। ये 'लिम्फोसाइट' नामक कणों को उत्पन्न करती हैं। ये कण अन्त में रुधिर का अंश बनते हैं। उदर्या कला में; ग्रीवा, वक्षस् तथा उदर की बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनियों के दोनों पार्श्वों पर; कक्षा तथा वंक्षण में ये प्रभूत होती हैं; जानु के पृष्ठ भाग तथा हाथ पर कोहनी तक कुछ होती है। शरीर में जीवाणुजन्य तथा इतर विष का संक्रमण हो जाय तो इन ग्रंथियों में उस विष का अवरोध तथा विनाश का प्रयत्न होता है।

रोगज-क्षमता (Aquired Immunity)

प्रत्येक जीवाणु के लिये ल्युकोसाइट तो एक होते हैं, परन्तु कल्पन, जीवाणुसूदन, प्रतिविष तथा समशन भिन्न-भिन्न होते हैं। शरीर पर जीवाणुजन्य किसी रोग का आक्रमण हो, तो उन जीवाणुओं से प्रतिकार के लिये शरीर में यथोचित कल्पन प्रभृति द्रव्यों तथा ल्युकोसाइटों की अधिकाधिक उत्पत्ति होती है। रोग का आक्रमण शरीर के लिये घातक सिद्ध हुआ तो समझना चाहिये कि शरीर की कल्पन प्रभृति द्रव्यों की उत्पादक-शक्ति दूसरे शब्दों में क्षमता न्यून हो गई है। इसके विपरीत रोग का नाश होकर शरीर रक्षित रहा तो इसका अर्थ वैज्ञानिक शब्दों में यह हुआ कि शरीर की क्षमता ने जीवाणुओं पर विजय पा लिया। इसके बाद उस शरीर में उन विशिष्ट जीवाणुओं को संहार करने की शक्ति बहुत कालतक विशेष रहती है। यही कारण है कि मसूरिका आदि रोगों का आक्रमण एक बार होने पर प्रायः दुबारा नहीं होता।

युक्ति कृत क्षमता (Artificial immunity)

इस स्वाभाविक क्षमता के अतिरिक्त कृत्रिम उपाय से भी क्षमता उत्पन्न की जा सकती है। विशिष्ट जाति के जीवाणु अथवा उनके विष उत्तरोत्तर बढ़ती मात्रा में सूचीवस्ति (Injection) द्वारा घोड़े के शरीर में प्रवृविष्ट किये जाते हैं। परिणाम में घोड़े के रुधिर तथा रस में उस जाति के

जीवाणुओं के विष का प्रतिरोधी प्रतिविष उत्पन्न हो जाता है। इन घोड़ों का रक्त निकाल कर उनकी लसीका (Serum) छोटी-छोटी प्रणालियों में संग्रह कर के रखी जाती है। अनागत रोग विशेष के प्रतिरोध तथा आगत के प्रतिकार के लिये इस लसीका की सूचीवस्ति दी जाती है। इस चिकित्सा-पद्धति का नाम लसीका चिकित्सा है (Serum therapy)। मसूरिका के प्रतिरोध के लिए 'गोमसूरिका' (Con pox) से आक्रान्त बछड़ों के स्तनों से निकले स्राव की सूचिवस्ति दी जाती है। इस पद्धति का नाम 'टीका' (Vaccination) है। इस युक्तिकृत क्षमता की अपेक्षा रोगज-क्षमता अधिक कालतक ठहरनेवाली होती है।

सातवां अध्याय

प्रकृत वात के कर्मों का वर्णन

"वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधान करःशरीरस्य, प्रवर्त्तकोवाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणां, क्षेप्तावहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता कर्त्ता गर्भाकृतीनां, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः ॥"

च० सू० १२

"उत्साहोच्छ्वासनिःश्वास चेष्टाधातुगतिः समा ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥"

च० सू० १८

"स्वयम्भुरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ।
स्वातन्त्र्यान्नित्य भावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च ॥
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोक नमस्कृतः ।
स्थित्युत्पत्ति विनाशेषु भूतानामेष कारणम् ॥

अव्यक्तोव्यक्त कर्मा च रूक्षः शीतो लघुश्चरः ।
तिर्य्यग्गो द्विगुणश्चैव रजो बहुल एव च ॥
अचिन्त्य वीर्यो दोषाणां नेता रोग समूहराट् ।
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधान गुदालयः ॥
देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ।
दोष धात्वग्नि समतां सम्प्राप्तिं विषयेषु च ॥
क्रियानामनुलोम्यञ्च करोत्यकुपितोऽनिलः ॥"
(इन्द्रियार्थोप सम्प्राप्तिं दोष धात्वग्न्यवैकृतम् ।
क्रियाणामनुलोम्यञ्च कुर्याद् वायुरदूषितः ॥)

सु० नि० १०

"क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥"

सु० नि० ७

"वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम् ।
वायुर्विश्व मिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ॥
अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः ।
वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेद् वातरोगः समाः शतम्"

च० चि० २८

"सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।
(तेनैव रोगाः जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ॥"

च० सू० १७

वायुरेवहि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः ।

च० चि० २८

अर्थात् वायु शरीर रूप यन्त्र का सञ्चालन करनेवाला है। वही प्राणी मात्र की उत्पत्ति, स्थिति, और विनाश का हेतु है। वही गर्भ को विविध आकृतियाँ प्रदान करती है। वही स्रोतोमय शरीर में संख्यातीत सूक्ष्म और स्थूल स्रोतों के विवरों का निर्माण करती है। शरीर के प्रत्येक धातु की स्थूल और सूक्ष्म रचना (व्यूह) का कारण वायु है। प्रत्येक अवयव का अन्य अवयवों के साथ रचनात्मक तथा कर्म विषयक सन्धान (सहकार) वायु की ही प्रेरणा से होता है। शरीर की यावत् चेष्टाएँ वायु द्वारा होती हैं। वायु से ही उच्छ्वास, निःश्वास आदि (जीवन के मूल अनैच्छिक-स्वतन्त्र) चेष्टाएँ होती हैं। वायु मन को उसके दृष्ट विषयों में नियोजित करती है ; वही अनिष्ट विषयों में प्रवृत्त हुए उस (मन) का नियमन करती है। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ वायु की ही प्रेरणा से अपने-अपने कर्म में संलग्न रहती हैं। वायु ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का ज्ञान कराती है। वही वाणी का प्रवर्त्तक है, स्पर्श और शब्द-ज्ञान का वही मूल है। वायु ही पाचकाग्नि तथा धात्वाग्नियों का

प्रदीपक है। वायु ही शेष दोषों को और मलों को अपने-अपने स्थान पर रखती है तथा आवश्यकता होने पर योग्य स्थान पर पहुंचाती है। वायु के बिना पित्त और कफ पङ्गु है। वायु ही अविकृत हो तो दोषों, धातुओं और मलों को सम-प्रमाण में रखती है तथा उनके कर्मों के समभाव की रक्षा करती है। वायु ही दोषों का शोषक तथा मलों को अपने-अपने मार्ग से बाहर निकालने वाली है। सर्व अवयवों और चेष्टाओं का निमित्तभूत होने से वायु सर्वात्मा (विश्वरूप) है। वायु ही बल है। वायु ही आयु है। वायु ही प्राणियों का प्राण है। वायु ही हर्ष और उल्लास का हेतु है। वायु अदूषित रहे तो मनुष्य सर्वदा नीरोग, बलवान्, तेजस्वी, वर्चस्वी, परिपुष्ट और ज्ञान सम्पन्न होता है और पूर्ण आयु (शतवर्ष) लाभ करता है। वायु दोषादिकों का प्रेरक और नियामक है, पर स्वयं स्वतन्त्र है। उसका प्रभाव अचिन्त्य है। वह सर्वशरीर में संचरण करता है। स्वयं अव्यक्त है, पर अपने कर्मों द्वारा वह व्यक्त रूप है। वायु आशुकारी तथा मुहुश्चारी है। वह धाता, प्रभु और सर्वलोक नमस्कृत्य भगवान् है।

वायु के पूर्वोक्त स्वतन्त्र कर्म हैं। इनके अतिरिक्त उसका परतन्त्र कर्म भी हैं, जैसे—

"योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥"

अर्थात् वायु योगवाही है। योगवाही का अर्थ है 'योगात् योगिनो गुणं वहति-इति योगवाहः।' अर्थात् जिसके साथ इसका योग होता है यह उसका गुण ग्रहण कर लेता है। पित्त के साथ योग होने से पित्त के गुण—दाह, उष्णता प्रभृति को ग्रहण कर वही लक्षण दिखाने तथा कर्म करने लग जाता है। इसी प्रकार कफ-संयोग होने पर कफ के गुण-शीत आदि को ग्रहण कर तदनुकूल कर्म करने लगता है।

प्राणवायु के कर्म

'प्रस्पन्दन' (सुश्रुत)। "देहधृक्। अन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणाश्चाप्यवलम्बते ॥" (सुश्रुत नि० १) "तत्र प्राणो मूर्द्ध्न्यवस्थितः कण्ठोरश्चरो बुद्धीन्द्रियमनो धमनीधारणष्ठीवनक्षवथूद्गार प्रश्वासोच्छ्वासान्नप्रवेशादिक्रियः।" (अष्टाङ्ग संग्रह)। "प्राणः प्रीणाति भूतानि प्राणो जीव इति स्मृतः।" (भेल सं०)। "प्राणस्य × × ×। ष्ठीवनं क्षवथूद्गार श्वासाहारादि कर्म च ॥" चरक

अर्थात् हृदय, फुफ्फुस और मस्तिष्क का निवासी तथा कण्ठ, उरःप्रदेश में संचरण करनेवाला प्राणवायु के वे सब कर्म हैं जो उक्त अवयवों द्वारा सम्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि वायु इन अवयवों में रहकर इन्हें कार्यक्षम बनाता है। फुफ्फुस तथा हृदय-प्रस्पन्दन (आकुञ्चन-प्रसार) द्वारा देह का धारण तथा भुक्तान्न को अन्तःप्रविष्ट कराकर एवं बाहर से प्राण-द्रव्य (Oxygen) विशिष्ट वायु को शरीर में देकर प्राणों का अवलम्बन करना, इसका प्रधान कर्म है। मस्तिष्क में रहकर (मूर्ध्न्यस्थितः) बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय

एवं मन का भी नियन्त्रण प्राणवायु का ही कर्म है। यह (प्राण-वायु) मस्तिष्क के संज्ञावह तथा चेष्टावह नाड़ियों को नियमन (अभिवहन तथा प्रवर्तन) करनेवाले केन्द्रगत तथा सुषुम्नागत धूसर एवं श्वेत-धातु प्रसाद में उद्योजन उत्पन्न करता है। उरःप्रदेश तथा कंठ में संचार कर वह श्वास-प्रश्वासादि क्रियाओं को सम्पन्न करता है और तत्रस्थ मलों को ष्ठीवन, क्षवथु तथा उद्गार द्वारा बाहर निकालता है। इन सब कर्मों के करने से प्राणवायु प्राणियों का प्राण कहलाता है।

उदान-वायु के कर्म

'उद्वहन्' (सुश्रुत)। "तेन भाषित गीतादिविशेषोऽभि-प्रवर्त्तते।" (सु० नि० ७), "उदान × × × वाक् प्रवृत्ति-यत्नोर्ज्जाबलवर्णस्रोतः प्रीणनधीधृतिस्मृतिमनोबोधनादि क्रियः।" (अष्टाङ्ग संग्रह), "यद्वान्यदूर्ध्वगं जन्तोस्तदुदानस्य चेष्टितम्॥" (भेल०) "उदानस्य × ×। वाक् प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जोबलवर्णादि कर्म च॥" —चरक

अर्थात् नाभि, उरु और कण्ठ-प्रदेश का निवासी उदान-वायु का प्रधान कर्म ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक स्वर तथा शब्दों को प्रवर्त्तित कराना है। भाषण तथा गीत आदि कर्मों में उदान वायु की ही क्रिया का प्राधान्य होता है। (स्वर-यंत्रों में) प्रयत्न (स्वर-तंत्रियों में) उर्ज्जा और बल देना तथा वर्णों (अक्षरों) को उत्पन्न करना, स्रोतों (वाणी के स्रोतों) का प्रीणन एवं धी, धृति, स्मृति, मन और बोधन आदि क्रियाओं को सम्पन्न करना भी

उदान वायु के कर्म में कहा गया है। इन कर्मों का स्पष्टीकरण आगे इन कर्मों में होनेवाली शरीर-क्रियाओं के वर्णन में हो चुका है।

समानवायु के कर्म

"विवेक" (सुश्रुत)। "सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि।" (सु० नि० १)। "समानोऽन्तरग्निसमीपस्थस्तत्संधुक्षणः पक्वामाशयदोषमलशुक्लार्त्तवाम्बुवहः स्रोतो विचारी तदवलम्बनान्नधारणपाचनविवेचनकिट्टाधोनयनादिक्रियः।" अष्टांग-संग्रह

उक्त सूत्रों में समान वायु का प्रधान कार्य 'विवेक' कहा है। विवेक रासायनिक विश्लेषण को कहते हैं। अर्थात् समान-वायु आमाशय और पक्वाशय में निवास करता हुआ तत्रस्थ अन्तराग्नि का संधुक्षण कर (पाचक-रसों का श्राव कराकर) वहाँ (उस प्रदेश में) आये हुए अन्न के पाचन में सहायक होता है और उक्त अग्नि (पाचक-रसों) द्वारा पके हुए अन्न से प्रसाद भाग और किट्ट (मल) भाग को पृथक् करता है। इस प्रकार अन्नरस और अन्नमल के विवेक (पृथक् करण) द्वारा शरीर धारण के लिए अन्नरस को स्रोतों में विचरण के लिए योग्य बनाकर शरीर का धारण करता है और पृथक् किया हुआ मल भाग को नीचे की ओर ढकेल उसे बाहर निकालने योग्य बनाता है। भोजन किया हुआ अन्न जब आमाशय तथा पच्यमानाशय में पहुंचता है तो वहां उनपर विविध पाचक-रसों का स्राव उनमें संलग्न नाड़ियों के अनुप्राणन से ही होता है। यह अनुप्राणन का कार्य ही समान वायु का संधुक्षण है। पाचक रसों के भुक्त-अन्न पर क्रिया होने के बाद

पाकजन्य अन्नरस का विवेक अर्थात् मल से पृथक्करण होता है और पृथक्-किया हुआ अन्नरस का प्रसाद भाग द्विविध स्रोतों (रसायिनी या पयस्विनी तथा प्रतिहारिणी शिराओं की शाखाओं) द्वारा आचूषित हो सिरा रक्त में मिलकर रुधिर-प्रवाह में जाता है। उक्त अन्नरस का प्रसाद भाग शरीर-धातुओं (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-शुक्रादि) का उपादान धातु बन उनका पोषण करता है। यह आचूषण कर्म भी समान-वायु का ही है।

व्यानवायु के कर्म

"पूरण" (सुश्रुत)।

"देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गति प्रसारणाक्षेप निमेषादि क्रिया सदा ॥"

च० चि० २८

"कृत्स्नदेहचरो व्यानो रस संवहनोद्यतः।
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधाचेष्टत्यपि ॥"

सु० सू०

"व्यानो हृद्यवस्थितः कृत्स्नदेहचरः शीघ्रगतिः गतिप्रसारणा कुञ्चनोत्क्षेपावक्षेप निमेषोन्मेष जृम्भणान्नस्वादनस्रोतो विशोधन-स्वेदासृक्स्रावणादि क्रियो योनौ च शुक्र प्रतिपादनो विभज्य चान्नस्य किट्टात् सारं तेन क्रमशो धातूंस्तर्पयति।"

अ० सं० सू० अ० १०

"व्यानः शरीर चेष्टा च निमेषोन्मेषणानि च ।"

भेल० सू० अ० १.

व्यान-वायु का प्रधान कर्म 'पूरण' अर्थात् समस्त शरीर के वाहिनियों को रस-रक्त से भरा-पूरा रखना है। यह रस-रक्त आदि का संवहन करता है, स्वेद और रुधिर का स्राव करता है। रुधिर के स्राव से तात्पर्य केशिकाओं से रस का स्राव है। वह प्रसारण, आकुञ्चन आदि पांच प्रकार की (मांस धातु से होनेवाली) चेष्टाओं तथा उनसे होनेवाली गति—निमेष, उन्मेष, आक्षेप आदि कार्यों का हेतु होता है। जृम्भन, आस्वादन, स्रोतोविशोधन आदि कार्य भी व्यानवायु के ही हैं। हृदय से रक्त को लेकर समस्त शरीर में सञ्चार कराना तथा केशिकाओं के स्रावसे तत्तत् अवयवों का पोषण करना, और उन्हें कार्यक्षम बनाना तथा तत्तत् अवयव प्राप्त वाहिनियों (स्रोतों) के अशुद्ध रक्त को पुनः हृदय की ओर प्रवाहित कराना आदि कार्य व्यान-वायु के हैं। रक्त-प्रवाह में धमनियों तथा शिराओं के अन्दर संकोच-प्रसार व्यान-वायु के कारण ही होता है। धमनियाँ स्थिति-स्थापक होती हैं, अतः जब उनपर दबाव पड़ता है, तब वे फूलती हैं और पुनः संकुचित होकर रक्त का विक्षेप करती हैं। आयुर्वेद में 'पूरण' शब्द से इस भाव को व्यक्त किया गया है। शरीर की चेष्टाएँ (पञ्चविध) प्रधानतया मांस-पेशियों द्वारा सम्पन्न होती हैं। अतः मांस-पेशियों में उपयुक्त रक्त का संचार कराकर

तथा उन्हें आवश्यक पोषणों का स्राव (रस-द्वारा) कराकर उनमें गति उत्पन्न करना व्यान-वायु का कार्य है।

अपान-वायु का कार्य

"धारण" (सुश्रुत)

"वृषणौ वस्ति मेढ्रं च नाभ्यूरू वंक्षणौ गुदम्।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृत् क्रियः॥
सृजत्यार्त्तवगर्भौ च युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते।
स्व-कर्म कुरुते देहो धार्यते तैरनामयः॥"

च० चि० २८

"पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्।
समीरणः शकृन्मूत्र शुक्रगर्भार्त्तवान्यधः॥"

सु० नि० १

"अपानस्त्वपानस्थितोवस्तिश्रोणिमेढ्रवृषणवंक्षणोरुचरो विण्मूत्र-शुक्रार्तव गर्भनिष्क्रमणादिक्रियः।" अ० सं० सू० २०

"गुदमाध्मापयत्येष देहं यः स च सर्वशः।
एषु प्रतिष्ठितो वायुरपान इति संज्ञितः॥"

मेल० सं० सू० ११

अपान वायु का प्रधान कर्म अवेगकाल में मल, मूत्र, शुक्र तथा

आर्त्तव का धारण और वेग उपस्थित होने पर इन्हें बाहर निकालना है। अवेग काल में गुद, मेढ्र, वस्ति, वृषण तथा अन्तःफल में इनके द्वारों को बन्द रख तत्रस्थ मलों को धारण करना तथा वेग उपस्थित होने पर तत्तत् अवयवों में संकोच उत्पन्न कर और उनके द्वारों को खोलकर तत्रस्थ मलादिकों को बाहर निकालना अपान वायु का कार्य है। गर्भाशय में प्रसव के लिये अनुपस्थित काल तक उसके मुख को बन्द रख, गर्भ का धारण करना तथा प्रसव-काल उपस्थित होने पर गर्भाशय में संकोच उत्पन्न कर उसके मुख को विस्फारित करके गर्भस्थ बालक को बाहर निकालना अपान वायु का कार्य है। आयुर्वेद-शास्त्र में वायुओं के स्थान तथा कर्म के अनुसार पाँच भेद किये जाने पर भी वास्तव में वायु एक ही है। यही कारण है कि पाठकों को पांच वायुओं के कर्मों के उक्त वर्णन में एक वायु के कर्म का दूसरे वायु के कर्म में सम्मिलित वर्णन उपलब्ध होता है। वैदिक-ग्रन्थों में नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नाम से पांच वायुओं का वर्णन उपलब्ध होता है। इनके कार्य क्रमशः उद्गार, उन्मेष, क्षुधा और जँभाई कहा है।

उक्त वायु के कर्मों को स्पष्ट करने के लिये इन वायुओं द्वारा होनेवाले कर्मों का विवेचन, आधुनिक शारीरक्रियाविज्ञान से करना आवश्यक प्रतीत होता है। अतः वायु के प्रकृत्-कर्मों का वर्गीकरण करना होगा और उन कर्मों का भिन्न-भिन्न संस्थानों में विभाजित कर उन्हें दर्शाना आवश्यक है। अस्तु।

प्रकृत-वायु के कर्मों को हम दस विभागों में विभक्त कर सकते हैं ; जैसे—

संस्थान	अवयव	वायुका नाम
१ सौषुम्निक-मस्तिष्क वात-संस्थान २ श्वास-संस्थान ३ रक्तवह-संस्थान	मस्तिष्क, सुषुम्ना और अनुमस्तिष्क फुफ्फुस, क्लोम, मुख, हृदय	प्राण वायु
४ पचन-संस्थान ५ रसावह-संस्थान	महास्रोत (आमाशय अंत्रादि सहित मुखसे गुदपर्यन्त) अग्न्याशय, यकृत्, रसायनियां, सिराएँ पयस्विनियाँ आदि	समान वायु
६ सामान्य रस-रक्त-वह संस्थान ७ मांसपेशी संस्थान	सिरा, धमनियां, केशिकाएँ, यकृत, प्लीहा, देहपरमाणु, मांसपेशियाँ इत्यादि ।	व्यान वायु
८ वाणिपूर्वक-संस्थान ९ चेष्टावह नाड़ियां	स्वरयंत्र, स्वरतंत्र, मुख, दाँत, गल, जिह्वा, तालु आदि ।	उदान वायु

१० मलमूत्र-निष्कासन-संस्थान	श्रोणि, गुद, वृषण, वस्ति, वृक्क, शिश्न, गर्भाशय, अंतःफल, योनि, स्वेद-ग्रंथियाँ, त्वचा, नासा, कर्णादि स्रोत	अपान वायु

उक्त वर्गीकरण को समझने के लिये शरीर के वातसंस्थान को समझना आवश्यक है। अतः आधुनिक शारीरक्रिया-विज्ञानानुसार उनका दिग्दर्शन करा पुनः उक्त पञ्चविध वायु के कर्मों का स्पष्टीकरण किया जायगा।

आधुनिक शारीरक्रिया-विज्ञान (Physiology) में इन कार्यों को सम्पन्न करनेवाले संस्थान को नाड़ीसंस्थान (Nervous-system) कहा गया है। इसका दूसरा नाम वातसंस्थान भी है। आयुर्वेद का पारिभाषिक 'शिर', जो ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं मन का अधिष्ठान माना गया है, इस संस्थान का मूल है। शरीर के समस्त अभिवहन तथा प्रवर्त्तन करनेवाली संज्ञा तथा चेष्टावह-नाड़ियों का केन्द्र उक्त शरीर में है। यहीं वाताधिष्ठित मन बाह्य जगत् तथा शरीर के विभिन्न अवयवों के सम्बन्ध में विविध संज्ञायें (ज्ञान) प्राप्त करता है तथा यहीं से मनोवहों (चेष्टावहों) द्वारा शरीरावयवों को विविध क्रियायें करने की प्रेरणा करता है। इसीसे आयुर्वेदशास्त्र में इसे उत्तमाङ्ग कहा गया है। जैसे—

"प्राणाः प्राणभृतां यत्रस्थिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥ "

च० सू० १७

और दार्शनिकों ने इस भाव को व्यक्त करने के लिये "ऊर्ध्व-मूलमधः शाखमृषयः पुरुषं विदुः ।" यह वाक्य कहा है ।

नाड़ीसंस्थान के दो कार्य हैं—(१) शरीर में होनेवाली समस्त क्रियाओं का सञ्चालन तथा (२) बाह्य परिस्थिति के अनुरूप उन (क्रियाओं) में विविध परिवर्त्तन करना । इस उद्देश्य से नाड़ी-संस्थान की रचना दो प्रकार की नाड़ियों (Nerves) से होती है । प्रथम प्रकार की नाड़ियाँ बाह्यसृष्टि-सम्बन्धी ज्ञान को तथा शरीरावयवों में होनेवाली शुभ-अशुभ वेदनाओं (अनुभवों) को अपने केन्द्र तक पहुंचाती है । दूसरे प्रकार की नाड़ियाँ केन्द्र की ओर से यथायोग्य चेष्टाओं का आदेश अवयवों को ले जाती है । पहले प्रकार की नाड़ियों को 'संज्ञावह' (Asterent nerves or Sensory nerves) तथा दूसरे प्रकार की नाड़ियों को 'चेष्टावह' या 'मनोवह' (Esterent nerves or Motor nerves) कहते हैं । दोनों प्रकार की नाड़ियों में संज्ञाओं तथा चेष्टाओं का संदेश वहन करते हुए जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें 'वेग' (Impulse) कहते हैं । 'वेग' की गति सामान्यतया प्रति सेकेण्ड १२० मीटर (लगभग १०० गज) होती है ।

इन्द्रियाँ तथा नाड़ीसंस्थान

भारतीय दर्शन तथा आयुर्वेद में इन्द्रियों के स्पष्ट दो विभाग किये गये हैं—(१) ज्ञानेन्द्रियाँ तथा (२) कर्मेन्द्रियाँ। दोनों इन्द्रियों का कार्य, वायु की प्रेरणा से सम्पन्न होता है, यह पहले कहा जा चुका है। आधुनिक शारीरक्रियाविद् नाड़ीसंस्थान के दो कार्य—अर्थात् ज्ञान तथा कर्म के वेगों का वहन करना—बताते हैं। यह वर्णन प्राच्य वर्णनों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के विभाग) से सर्वथा साम्य रखता है। शरीर के सभी कार्य उक्त द्विविध इन्द्रियों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के मानव-शरीर के अन्दर पाँच द्वार हैं, जैसे—स्पर्श के लिये त्वचा, शब्द के लिये श्रोत्र, रूप के लिये चक्षु, रस के लिये रसना तथा गन्ध के लिये घ्राण हैं। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के भी पाँच द्वार हैं, जैसे—पाणि, पाद, मुख, पायु और उपस्थ।

ये इन्द्रियों के द्वार शरीरस्थ विविध अवयवों से निर्मित होते हैं; जैसे—ज्ञानेन्द्रियों के द्वार—

शब्द-ज्ञान का द्वार—श्रोत्र

इसके तीन विभाग हैं—बहिःकर्ण, मध्यकर्ण तथा अन्तःकर्ण। बहिःकर्ण के दो अवयव हैं—कर्ण शष्कुली (Pinna) और बाह्य कर्णगुहा (External auditory meatus)। बाह्य कर्णगुहा (कान के छिद्र) की लम्बाई १½ इञ्च होती है। कर्णगुहा की अन्दर और सामने की दीवार एक अति सूक्ष्म झिल्ली से बनी

होती है। इस झिल्ली को 'श्रुतिपटह' (कान का पर्दा—Drum of the ear) कहते हैं। इस के पीछे मध्यकर्ण होता है। शब्द की लहरियाँ बाह्यकर्णगुहा में होकर इस पटह पर टकराती हैं। 'कर्णगुहा' के कुछ टेढ़ी होने से पटह दिखाई नहीं देता। कर्ण-रोग में इसकी परीक्षा के लिये कर्ण-शष्कुली को जरा ऊपर से पकड़ कर ऊपर, पीछे तथा बाहर की ओर खींचने से तथा कर्ण-वीक्षण (Ear Speculum) तथा दर्पण की सहायता से वह देखी जाती है। स्वस्थ दशा में श्रुतिपटह मुक्ताशुक्ति के समान भास्वर होता है।

मध्यकर्ण

यह एक छोटी-सी प्रायः अस्थिमय गुहा है, जो शङ्खास्थि के एक देश में रहती है। इसकी बाहर की दीवार पूर्वोक्त श्रुतिपटह से बनी होती है। इस गुहा में तीन-तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं। पहली अस्थि 'मुद्गरक' (Mallens or Hammer) है। यह सम्पूर्ण लम्बाई में श्रुतिपटह से संलग्न होती है। शेष अस्थियाँ 'अंकुशक' (Incus) तथा 'धरणक' (Stapes) हैं। ये क्रम से एक दूसरे से संयुक्त रहती हैं। मध्यकर्ण के भीतरी दीवार में एक छिद्र होता है। इसमें 'धरणक' अस्थि टिकी होती है। शब्द की लहरियाँ श्रुतिपटह से टकराकर क्रम से इन अस्थियों को आन्दोलित करती हुई धरणक द्वारा अन्तःकर्ण में प्रविष्ट होती हैं। असाध्य-वधिरता में प्रायः मध्यकर्ण के जीर्ण शोथ के कारण

तीनों अस्थियाँ एक हो जाती हैं और शब्द की लहरियों का वहन करने में असमर्थ हो जाती हैं।

पटहपुरणिका (Eustachian tube)

नासिक्य-गल से (Nasal phargux) पटहपुरणिका नामक एक सूक्ष्म प्रणाली मध्यकर्ण में आती है। इसकी लम्बाई १¾ इञ्च के लगभग होती है। इस प्रणाली द्वारा बाह्य-वायु मध्यकर्ण में प्रविष्ट और सदा विद्यमान रहता है। इस अन्तःप्रविष्ट-वायु और बाह्यकर्णगुहा के वायु के दबाव से श्रुतिपटह स्वस्थ दशा में दृढ़ (अशिथिल) रहा करता है। कभी-कभी गले में शोथ, प्रतिश्याय, तुरिण्डकेरी (Tonsils) आदि के कारण पटहपुरणिका में भी शोथ हो जाता है, जिससे कुछ काल के लिये वाधिर्य्य उपस्थित हो जाता है।

अन्तःकर्ण या कान्तारक (Labyrinth)

यह वास्तविक शब्देन्द्रिय है। श्रुतिनाड़ी (अष्टमशीर्षण्य नाड़ी) के प्रतान इसमें व्याप्त होते हैं। शब्द की लहरियाँ पूर्वोक्त क्रम से इन प्रतानों में होकर मस्तिष्क के बल्क में स्थित अपने स्थान में पहुंचती और शब्द का ग्रहण कराती हैं। अन्तःकर्ण के दो भाग हैं—एक अस्थिमय तथा दूसरा उसी के आकार का उसके अन्तर्गत कलामय। कलामय अन्तःकर्ण के अन्दर और बाहर एक प्रकारका द्रव रहा करता है। अन्तःकर्ण के दोनों अवयवों के तीन उपाङ्ग हैं। प्रथम का नाम 'शम्बुक' (Cochba) है। यह घोंघे के

समान आवर्तमय होता है। शब्द के ग्रहण में यह अनिवार्य तथा प्रधान है। श्रुतिनाड़ी के अतिसंवेदी (ग्रहणशील) प्रतान इसमें व्याप्त होता है। वायु के कार्यों के वर्णन में 'श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं' की व्याख्या में चक्रपाणि ने "श्रवणमूलत्वं वायोः कर्णशष्कुली रचना विशेषे व्याप्रियमानत्वात्, मूलं प्रधान कारणम्" इस वाक्य से सम्भवतः इसीका संकेत किया है। शम्बुक के बाहर-स्थित पूर्वोक्त द्रव उक्त शब्द को क्रम से आई लहरियों से आन्दोलित होकर अन्तस्थ द्रव को आन्दोलित करता है। यह आन्दोलन श्रुति-नाड़ी के प्रतानों द्वारा ग्रहण कर मस्तिष्क में पहुंचाया जाता है। परिणाम में शब्द का अनुभव होता है।

अन्तःकर्ण का दूसरा उपाङ्ग 'तुम्बिका' (Vestibule) है। इसके मध्य एक छिद्र होता है, जिसमें धरणकास्थि टिकी रहती है। अन्तःकर्ण का तीसरा उपाङ्ग शुण्डिकाएँ (Semi circular Canal) हैं। ये तीन अर्धवर्त्तुल प्रणालियां हैं। इनका छिद्रों द्वारा तुम्बिका से सम्बन्ध होता है।

शुण्डिकाओं के कार्य

इन शुण्डिकाओं का कार्य शरीर की स्थिति का सन्तुलन है। विविध शारीरिक-चेष्टाओं में शिर यत्किञ्चित् भी इधर-उधर होता ही है, जिससे इन शुण्डिकाओं के भीतर-स्थित पूर्वोक्त द्रव इधर-उधर होता है। द्रव का यह इतस्ततः होना वेग के रूप में सूक्ष्मनाड़ियों द्वारा धम्मिल्लक में पहुंचाया जाता है। यह अंग तदनुसार शरीर के अवयवों को विविध प्रेरणाएँ करता है;

अर्थात् शरीर का कोई-अङ्ग किसी विशेष दिशा में झुक जाय और शरीर उस दिशा में गिरने को हो, तो पूर्वोक्त प्रकार से उसका ज्ञान शुण्डिकाओं में स्थित द्रव द्वारा धम्मिल्लक को होता है, जिससे शरीर समतुलित हो जाय।

स्पर्श-ज्ञान के द्वार

यह ज्ञान प्रधानतया त्वचा (स्पर्शनेन्द्रिय) से तथा अल्पतया अन्तर्वर्ती अङ्गों से होता है। स्पर्शज्ञान का वहन करनेवाली नाड़ियों के सूत्र अन्तस्त्वग् में व्याप्त होते हैं। इनके अन्तिम प्रान्त विविध प्रकार के होते हैं ; जैसे हाथ तथा पैर के तलुओं पर इन सूत्रों के अन्तिम प्रान्तों पर छोटे-छोटे अण्डाकार उभार होते हैं। परीक्षाओं से विदित हुआ है कि त्वचा में सर्दी, गर्मी, स्पर्श, वेदना तथा पीड़न का अनुभव करनेवाले क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हैं ; जैसे स्पर्श के क्षेत्र प्रति वर्ग सेन्टीमीटर में पन्द्रह होते हैं।

रूपज्ञान के द्वार

रूप, प्रकाश, या वर्ण का ज्ञान नेत्रेन्द्रिय द्वारा होता है। नेत्रेन्द्रिय का आश्रय नेत्र-गोलक है। इसकी रचना का निर्देश आलोचक-पित्त के वर्णन में हो चुका है।

रसज्ञान के द्वार

रसों का ज्ञान मुख्यतया जिह्वा (रसनेन्द्रिय) से तथा अंशतः तालु तथा गल से होता है। जिह्वा की कला में दानेदार उभार

होते हैं। इनके अन्तर्भाग में छोटे-छोटे अण्डाकार दाने होते हैं। इन दानों को 'स्वादांकुर' (Test buds) कहते हैं। स्वादांकुरों में रस-ग्राहिका नाड़ियों (मुख्यतः नवम शीर्षण्य नाड़ी) के सूत्र व्याप्त होते हैं। जिह्वा के पश्चिम भाग में ये दाने विशेष उभरे हुए तथा अंग्रेजी अक्षर V के समान ग्रथित होते हैं। रसों का आस्वाद इस स्थल पर विशेष होता है। मधुर रस जिह्वा के अग्र भाग पर, तिक्त पश्चिम भाग पर तथा अम्ल किनारों पर विशेषकर अनुभव होता है।

गन्धज्ञान के द्वार

यह ज्ञान घ्राणेन्द्रिय द्वारा होता है। घ्राणेन्द्रिय का आश्रय नासिका है। इसके अतिअल्प ही स्थान में गन्ध का ग्रहण होता है। यह स्थान उर्ध्व शुक्तिका (Superior turbinated Process) को आवृत करनेवाली कला तथा उसकी समीपवर्ती मध्य प्राचीर (Septum) है। इतने ही स्थल में घ्राण-नाड़ी के (olfactory nerve) प्रतान व्याप्त होते हैं। (प्रतिश्याय में ये प्रतान सूजी हुई कला से व्याप्त हो जाते हैं, अतएव गन्ध-ज्ञान नहीं होता।)

कर्मेन्द्रिय के द्वार भी इसी प्रकार विभिन्न अवयवों से निर्मित होते हैं; जैसे—पाणि, पाद, मुख, पायु और उपस्थ—ये सभी अवयव मांसपेशियों, अस्थियों, कलाओं, रक्तवाहिनियों, स्नायुओं तथा नाड़ियों से व्याप्त होते हैं। इनमें मांस-पेशियाँ उन अवयवों को कार्यक्षम (चेष्टाओं के प्रवर्त्तक) बनाती हैं। अस्थियाँ उन्हें आकृति प्रदान कर धारण किये हुए रहती हैं; रक्तवाहिनियों द्वारा

उनका पोषण होता है, स्नायुओं से वे दृढ़ तथा सुबन्ध रहती हैं और नाड़ियों से उनका अनुप्रणन होता है। इनमें नाना प्रकार की गति मनोधिष्ठित-वायु के कारण ही नाड़ी - द्वार से हुआ करती है।

प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ (Reflex action)

हमारे शरीर पर किसी प्रकार के आघात होने से, उस आघात से बचने के लिये आहत - अवयवों में स्वतः क्रियाएँ होती हैं ; जैसे अनजान से कोई किसी अंग पर सुई चुभोये या गुदगुदी करे, तो हम सहसा उस अंग को हटा लेते हैं। आँख के आगे अकस्मात् कोई वस्तु आ जाय, तो हमारी पलकें गिर जाती हैं और हम आँख मींच लेते हैं। हम तन्मयता से कोई भाषण सुन रहे हों और कोई हम से कुछ बात करने लगे, तो हमारा हाथ झट निषेध-संकेत करने के लिये उठ जाता है। कोई स्वादु-वस्तु दिखाई दे, तो हमारा मुख लाला-स्राव से भर जाता है। प्रहर्षवश अनायास ही शुक्रपात होने लगता है। साइकिल एक बार सीख लेने के बाद ध्यान कहीं रहे, पैर ठीक पैडल पर ही पड़ता है। संध्या-पूजा आदि के मंत्र एक बार याद हो जाने पर उस समय के मंत्र स्वतः मुख से निकलने लगते हैं। ये सब नाड़ी-संस्थान की क्रियाएँ हम प्रत्यक्षतः अनुभव करते हैं। ये क्रियाएँ हमारे इच्छाधीन प्रयत्न के बिना ही सम्पन्न होती हैं। शरीर में होनेवाली अधिकांश क्रियाएँ ऐसी ही होती हैं। रक्त संवहन, श्वास-क्रिया और पचन-क्रिया आदि भी इसी प्रकार की

क्रियाओं के उदाहरण हैं। इन क्रियाओं को आधुनिक शरीर क्रियाविद् 'प्रतिसंक्रमित क्रिया' या केवल 'प्रतिसंक्रम' (Reflex) कहते हैं।

अनेक क्रियाएँ, जो आरम्भ में इच्छाधीन होती हैं, पीछे से अभ्यासवश प्रतिसंक्रमित हो जाती हैं; जैसे साइकिल आदि के चलाने में पहले इच्छापूर्वक प्रयत्न करना पड़ता है, अभ्यास हो जाने पर वे सभी क्रियाएँ (पैर का पैडिल पर पड़ना तथा उसे चलाना, हैन्डिल आदि को संतुलित रखना आदि) स्वतः अज्ञात दशा में भी होने लगती हैं। इस प्रकार अधिकांश क्रियाएँ प्रतिसंक्रमित होती हैं।

नाड़ी-संस्थान के दो विभाग

(१) मस्तिष्क सौषुम्निक नाड़ी-संस्थान (Cerebrospinal nervous System), (२) स्वतन्त्र नाड़ी-संस्थान (Autonomic nervous system)। उक्त दोनों नाड़ी-संस्थान परस्पर सहकार से कार्य करते हैं। ये दोनों वात-धातु या नाड़ी-धातु (Nerve-tissue) के बने होते हैं। इसकी रचना वाताणुओं या नाड़ी अणुओं (Nerve cells) तथा उनसे निकलनेवाले वात-सूत्रों या नाड़ी-सूत्रों (Nerve feters) से होती है। नाड़ी-सूत्र मिलकर नाड़ियाँ बनाते हैं। दोनों को अपने आश्रय में रखनेवाली तथा विविध-अणुओं और सूत्रों को मिलानेवाली एक वस्तु होती है, जिसे नाड़ी भूमि (Neuroglia) कहते हैं।

मस्तिष्क सौषुम्निक नाड़ी संस्थान के विभाग

इसके दो अवयव होते हैं—(१) मस्तुलुङ्ग पिण्ड (Brain) और (२) सुषुम्ना (Spinal cord)। मस्तुलुङ्ग-पिण्ड के निम्न विभाग होते हैं—मस्तिष्क (Cerebrum) धम्मिलक या अनुमस्तिष्क (Cerebellum)। मस्तुलुङ्ग मध्य (Midlerain), उष्णीषक (Pons) तथा सुषुम्णा शीर्षक (Medulla oblongeta)। मस्तुलुङ्ग पिण्ड का प्रधान भाग मस्तिष्क होता है। भार की दृष्टि से समस्त पिण्ड का यह $\frac{९}{१०}$ भाग होता है। इसपर अनेक सिराएँ होती हैं। धम्मिल्लक मस्तिष्क के पृष्ठभाग के नीचे की ओर होता है। मस्तुलुङ्ग, मध्य मस्तिष्क, धम्मिल्लक तथा उष्णीषक को जोड़नेवाला भाग होता है। इसके नीचे ग्रन्थि के आकार का उष्णीषक होता है। उसके भी नीचे सुषुम्णा-शीर्षक होता है। सुषुम्णा-शीर्षक नीचे की ओर सुषुम्णा से संयुक्त होता है। ये सब विभाग शिरःकरोटि में रहते हैं।

सुषुम्णा

करोटि के अधोभाग में एक छिद्र होता है। यहां से सुषुम्णा का प्रारम्भ होता है। सुषुम्णा—पृष्ठनेश में स्थित होती है। इसकी मोटाई कनिष्ठिका जितनी तथा लम्बाई कोई अठारह इञ्च होती है। इसके मध्य में अति सूक्ष्म, अणुवीक्षण से ही देखी जा सकने योग्य, प्रणाली होती है।

मस्तुलुङ्गपिण्ड तथा सुषुम्णा—दोनों तीन वृत्तियों (आवरणों)

से वेष्ठित होते हैं। मस्तुलुङ्गपिण्ड के अन्दर चार गुहाएँ होती हैं। इन गुहाओं के अन्दर की दोनों वृत्तियों के अन्तराल तथा सुषुम्णा की प्रणाली के मध्य में 'तर्पक-कफ' (Cerebro spinal fluid) रहा करता है। इनका वर्णन प्रकृत-कफ के विवरण में कर चुके हैं।

शुभ्र तथा धूसर धातु-प्रसाद

मस्तुलुङ्गपिण्ड और सुषुम्णा को काट कर देखें, तो उसमें बिना अणुवीक्षण यंत्र की सहायता के ही दो प्रकार की रचनाएँ स्पष्ट दिखाई देंगी। एक भाग शुभ्र वर्ण होने के कारण शुभ्र वस्तु (White matter) और दूसरा भाग धूसर होने के कारण धूसर वस्तु (Grey matter) कहलाता है। शुभ्र वस्तु 'नाडी-सूत्रों' की तथा धूसर वस्तु 'नाड़ी-अणुओं' की बनी होती है। मस्तु-लुङ्गपिण्ड में धूसर वस्तु बाहर की ओर तथा शुभ्र-वस्तु अन्दर की ओर होती है। सुषुम्णा में शुभ्र-वस्तु बाहर की ओर और धूसर-वस्तु अन्दर की ओर होती है। धूसर-वस्तु को ही धूसर-धातु-प्रसाद और शुभ्र वस्तु को ही शुभ्र-धातु-प्रसाद कहते हैं। धूसर धातु-प्रसाद में ही संज्ञाओं के वेग आते हैं और वहीं से चेष्टाओं के वेग अङ्गों में आते हैं।

स्वतंत्र नाड़ी-संस्थान की रचना के सम्बन्ध में कुछ कहने के पहले मस्तिष्क-सौषुम्णिक नाड़ी-संस्थान के क्रिया - कलाप का वर्णन आवश्यक है, अतः अब संक्षेप में उसे कहनेका प्रयत्न करेंगे।

मस्तिष्क के कार्य

मस्तिष्क (Cerebrum) रूप, रस, गन्ध आदि ज्ञान (Sensation) मेधा, (Intelligence) इच्छा, (Will) और उससे होनेवाली चेष्टा, स्मृति (Memory), आवेगों (Emotions) तथा चिन्तन का प्रधान आश्रय है। प्राणी वर्ग के मस्तिष्क की परीक्षा करें तो विदित होगा कि प्रत्येक प्राणी के मस्तिष्क के गोलार्द्धों का परिमाण तथा उस पर स्थित सिताओं की गहराई उस प्राणी की बुद्धि के अनुसार होती है। जैसे-चूहे का मस्तिष्क बहुत छोटा होता है ; साथ ही इस पर सिताएँ नहीं होतीं। बानर का मस्तिष्क अपेक्षाकृत बड़ा और उसमें सिताएँ होती हैं। मनुष्य का मस्तिष्क उससे भी बड़ा होता है और उसमें सिताएँ अधिक होती हैं। पहले कहा जा चुका है कि मस्तिष्क में बाहर की ओर का भाग धूसर और नाड़ी-अणुओं का बना होता है। इसे 'मस्तिष्कीय बल्क (Cerebral context) कहते हैं। इसी प्रदेश में ज्ञान के वेग आते हैं और वहीं से इच्छा और चेष्टाओं के वेग अवयवों में जाते हैं। सिताओं के कारण सहज ही बल्क भाग का विस्तार बढ़ जाता है। अतः उत्तरोत्तर उच्च योनियों में मस्तिष्क बड़ा और उसमें सिताएँ अधिक होने से उन में बुद्धि प्रकर्ष भी विशेष होता है।

मस्तिष्क के गोलार्द्धों के बल्क भाग में प्रत्येक ज्ञान तथा 'कर्म' के क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हैं। तात्पर्य यह कि रसादि ज्ञान का अनुभव अमुक-अमुक स्थान पर होता है और विविध कर्मों की

प्रेरणा करनेवाला विभिन्न-स्थलों पर होता है। कर्म के प्रेरक केन्द्र प्रत्येक गोलार्द्ध में आगे की ओर ऊपर से नीचे, एक पट्टी में एकत्र स्थित होते हैं। उभयविध समस्त केन्द्रों का प्रतिसंधायक-सूत्रों द्वारा परस्पर सम्बन्ध होता है। परिणामतः कभी कोई भी ज्ञान या कर्म अकेला नहीं पाया जाता। एक ज्ञान अपने नियत केन्द्र में उत्पन्न हुआ कि प्रतिसंधायक-सूत्रों (Association fibres) द्वारा उसका अनुभव अन्य केन्द्रों को होता है और वे अपनी प्रकृति के अनुसार अपना-अपना ज्ञान प्राप्त करते हैं वा अपना-अपना कर्म करते हैं। दूकान पर दूरसे नारंगी देखी, कि उसके पूर्वानुभूत गन्ध-रस आदि स्वयं स्मृति में आ जाते हैं, पैर दूकान की ओर उठ जाते हैं। हाथ, नारंगी को उठा लेता है; मुख, भाव-तोल करता है और इसी प्रकार आगे-आगे क्रियाएँ होती जाती हैं।

धम्मिल्लक (अनुमास्तिष्क) के कार्य

धम्मिल्लक का कार्य मांसपेशियों से होनेवाली समग्र चेष्टाओं (Muscular movement) में संवाद (ऐक्य और सहकार) रखना, शरीर की अवस्थिति (खड़ा होने या बैठने की अवस्था) का नियमन तथा विविध कर्मों (दौड़ना आदि) में शरीर का संतुलन (Equilibrium) करना है। शरीर के चार अवयवों से धम्मिल्लक में मांसपेशियों की अवस्था और स्थिति की सूचना देनेवाले वेग पहुंचते हैं। ये चार विशिष्ट अवयव निम्न हैं— आँखें, अन्तःकर्ण, मांसपेशियां, और संधियाँ तथा त्वचा। इन

स्थानों से शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की स्थिति का ज्ञान वेग के रूप में धम्मिल्लक में पहुंचता रहता है और वहाँ से अवस्थानुसार कर्म करनेवाली पेशियों को कर्म करते हुए सहकार की प्रेरणा मिलती रहती है। यहाँ ध्यान रहे, पेशियों को कर्म करने की प्रेरणा मस्तिष्क से मिलती है ; धम्मिल्लक का कार्य केवल उन में सहकार लाना है।

सुषुम्णा शीर्षक का कार्य

शिर या मस्तुलुङ्गपिण्ड से नाड़ियों के बारह जोड़े (युग्म) निकलते हैं और भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न अङ्गों में जाते हैं। इन्हें 'शीर्षण्य नाड़ियां' (Cranil nerves) कहते हैं। इनमें श्वास-प्रक्रिया तथा हृदय के स्पन्दन की प्रवर्त्तक-नाड़ियाँ सुषुम्णा-शीर्षक से निकलती हैं। इसीसे इस भाग का अधिक महत्त्व है। मस्तिष्क या धम्मिल्लक के आहत या विनष्ट होने से भी मनुष्य जीवित रह सकता है, पर सुषुम्णा-शीर्षक के बिनष्ट होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है। फाँसी में स्थानच्युत हुए कशेरुका के सुषुम्णा-शीर्षक पर दबाव पड़ने से ही मृत्यु होती है। इस प्रदेश से अन्य भी शीर्षण्य-नाड़ियां निकलती हैं। यह सुषुम्णाकाण्ड के समान प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ भी करता है। शीर्षण्य-नाड़ियों का स्थूल प्रभाव (उत्पत्तिस्थान) मस्तुलुङ्गपिण्ड का अधोभाग है, यद्यपि सूक्ष्मरूपेण ये मस्तिष्क के बल्क भाग से निकलती हैं।

शीर्षण्य-नाड़ियाँ

उक्त बारह शीर्षण्य-नाड़ियों के जोड़ों के नाम और क्षेत्र निम्नप्रकार है :—

(१) प्रथम-युग्म या घ्राण नाड़ियाँ—ये गन्ध का ग्रहण करती हैं। (Olfactory nerves).

(२) द्वितीय-युग्म या दृष्टि नाड़ी—इनसे वस्तुओं का दर्शन होता है (Optic nerves).

(३) तृतीय, चतुर्थ तथा षष्ठ युग्म-नाड़ियाँ या नेत्र प्रचेष्टनी नाड़ियाँ (Oculomotor Trochlear, Abdulens)—इनके कारण नेत्र के गोलकों, पुतली तथा पलकों की विविध गतियां होती हैं।

(४) पञ्चम-युग्म या त्रिधारा नाड़ियाँ (Trigeminal nerves)—प्रत्येक नाड़ी के तीन विभाग हैं। इनका कार्य मुख तथा शिर की स्पर्श की संज्ञाओं का वहन करना तथा चबाने की क्रिया में जबड़ों को प्रवर्त्तित करना है।

(५) सप्तम-युग्म या वक्र-नाड़ी (Facial nerve)—ये मुख की पेशियों के प्रवर्त्तक हैं; उनमें परिवर्त्तन लाकर हृद्गत भावों को चेहरे पर द्योतित करती हैं। जिह्वा के पूर्व भाग में रस का आस्वाद भी उसीसे होता है।

(६) अष्टम-युग्म या श्रुति-नाड़ी (Auditory nerve)—इनके दो विभाग हैं। एक विभाग शब्द का श्रवण करता है,

दूसरा शरीर की विविध हलचलों से अन्तःकर्ण में होनेवाले परिवर्त्तनों का ज्ञान धम्मिल्लक तक पहुंचाता है।

(७) नवम-युग्म या कण्ठरासनी-नाड़ियाँ (Glossopharyngeal nerves)—ये जिह्वा के पश्चार्द्ध (पिछले भाग) में रस का आस्वाद कराती है। साथ ही ये गले की पेशियों को कर्म में प्रवर्त्तित करती है।

(८) दशम-युग्म या प्राणदा-नाड़ियाँ (Vagus nerves)—ये गल, कण्ठ, अन्नवह, आमाशय, फुफ्फुस, हृदय, अन्त्र, यकृत्, प्लीहा तथा अग्न्याशय की प्रवर्त्तक नाड़ियाँ हैं।

(९) एकादश-युग्म या ग्रीवा पृष्ठग नाड़ियाँ (Spinal accessory nerves)—इनका एक भाग प्राणदा नाड़ी से जा मिलता है, दूसरा ग्रीवा की मन्या तथा पृष्ठच्छदा नामक दो प्रधान पेशियों का प्रवर्त्तक है।

(१०) द्वादश युग्म या जिह्वातलिका-नाड़ियाँ (Hypoglossal nerves)—ये जिह्वा की चेष्टाओं की प्रवर्त्तिका है।

सुषुम्णाकाण्ड के कार्य

पूर्वोक्त शीर्षण्य नाड़ियाँ प्रधानतः उर्ध्व-जत्रुगत (ग्रीवा के ऊपर स्थित) अवयवों का नियमन करती है और गन्ध आदि का ग्रहण कराती है। परन्तु मस्तिष्क का बल्क भाग शरीर के अन्य स्थानों से भी ज्ञान का ग्रहण करता तथा उनके प्रति चेष्टाओं के वेग या सन्देश भेजता है। जिन नाड़ीसूत्रों द्वारा ज्ञान तथा चेष्टा के वेग मस्तिष्क-बल्क तथा शरीरावयवों के मध्य यातायात करते हैं, वे

सुषुम्णा-काण्ड में स्थित होते तथा उसका अंश भूत होते हैं। इस प्रकार 'सुषुम्णा-काण्ड' का एक कार्य उक्त प्रकार से संज्ञाओं तथा चेष्टाओं के वेगों का वहन करना है। परन्तु सुषुम्णा-काण्ड का इस कार्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र कार्य भी है। दोनों कार्यों के स्पष्टीकरण के लिए पहले सुषुम्णा-काण्ड की रचना जानना परम आवश्यक है।

सुषुम्णा की रचना

पहले कह आये हैं कि धूसर-वस्तु-मस्तुलुङ्ग, पिण्ड में बाहर की ओर और शुभ्र-वस्तु अन्दर की ओर होता है और ठीक इसके विपरीत सुषुम्णा काण्ड में अर्थात् शुभ्र वस्तु बाहर की ओर और धूसर-वस्तु अन्दर की ओर होता है। चौड़ाई की रूख सुषुम्णा को काटें तो इसमें भी दोनों वस्तुएँ स्पष्ट दीख पड़ेंगी। धूसर वस्तु का अवस्थान (आकार) अँग्रेजी अक्षर H के सदृश होता है। मस्तुलुङ्ग के समान सुषुम्णा में भी धूसर वस्तु की रचना प्रधानतः नाड़ी-अणुओं से होती है और शुभ्र वस्तु की नाड़ीसूत्रों से।

धूसर वस्तु के दो सिरे पीछे की ओर तथा दो आगे की ओर निकले होते हैं। अगले सिरे को 'अग्रिम शृंग' (Anterior cornu) और पिछले को 'पश्चिम शृङ्ग' (Posterior cornu) कहते हैं। सुषुम्णा-काण्ड में सारी लम्बाई में आगे और पीछे की ओर चीरें (दरारें) पड़ी रहती हैं।

सुषुम्णा-काण्ड की श्वेत वस्तु, उन नाड़ीसूत्रों से बनी होती है,

जो मस्तिष्क और अवयवों के मध्य वेग का वहन करती है। धूसर वस्तु जिन नाड़ी-अणुओं से बनी हैं, वे स्वयं मस्तिष्क के बल्क भाग के सदृश चैतन्य - केन्द्र हैं। अर्थात् शरीर के विभिन्न भागों से उनमें ज्ञान के वेग पहुँचते तथा वहाँसे चेष्टा के वेग अवयवों को प्राप्त होते हैं। पहले जिन प्रतिसंक्रमित-क्रियाओं का निर्देश किया है, वे सुषुम्णा-काण्ड द्वारा होती हैं। ये प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ सुषुम्णा के स्वतन्त्र कार्य हैं।

सौषुम्णिक नाड़ियाँ

सुषुम्णा-काण्ड से ऊपर से नीचे तक दायें और बाएँ समरूप से नाड़ियाँ निकलती हैं। इन्हें 'सौषुम्णिक-नाड़ियाँ (Spinal nerves) कहते हैं। ये कशेरुकाओं के छिद्रों से बाहर आती हैं। इन नाड़ियों के मूल सुषुम्णा के मध्यवर्त्ती धूसर-वस्तु के नाड़ी-अणु हैं। इनसे निकले नाड़ीसूत्र मिलकर धूसर-वस्तु के अग्रिम और पश्चिम शृंगों से बाहर निकलते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कशेरुका के अन्तरालवर्त्ती शृंगों से एक-एक मूल प्रादुर्भूत होता है। दोनों ओर के अग्रिम और पश्चिम मूल शीघ्र ही मिल जाते और एक नाड़ी बन जाते हैं। यही सौषुम्णिक-नाड़ियां हैं। ये जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे इनके विभाग और उपविभाग होते जाते हैं; जिनके प्रतान (शाखा-प्रशाखाएँ) त्वचा, पेशी आदि में व्याप्त होते हैं। सौषुम्णिक नाड़ियों में संज्ञावह तथा मनोवह (चेष्टावह) उभयविध सूत्र होते हैं। परन्तु मूल में ये दोनों सूत्र पृथक-पृथक् होते हैं। परीक्षाओं

से यह विदित हुआ है कि इनके पश्चिम मूल (पश्चिम शृङ्ग से निकले मूल) ज्ञानवह होते हैं; तथा अग्रिम मूल चेष्टावह (मनोवह) होते हैं। संज्ञवह-नाड़ी-सूत्रों द्वारा शरीरावयवों से स्पर्श, वेद्य, उष्ण आदि संज्ञाओं के वेग सुषुम्णा में पहुंचते और चेष्टावह-सूत्रों द्वारा अवयवोचित प्रतिसंक्रमक वेग अवयवों को पहुंचाते हैं। ग्रीवा से वक्षस् के अधोभाग पर्यन्त उक्त प्रकार से नाड़ियों के इकत्तीस जोड़े (युग्म) निकलते हैं। नीचे के भाग में सौषुम्णिक-नाड़ियाँ अश्वपुच्छ के सदृश समानान्तर गुच्छ के रूप में निकलती हैं। अतः सुषुम्णा-काण्ड का जो अंश विकार-ग्रस्त हो जाता है, उससे निचले भाग से निकलनेवाली नाड़ियाँ जिन अवयवों को जाती हैं, उनमें संज्ञा तथा चेष्टा सम्बन्धी विकार उपस्थित हो जाते हैं।

स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान (Autonomic nervous system)—

नाड़ी-संस्थान का जो भाग उन क्रियाओं का नियामक है, जो हमारी इच्छा और प्रयत्न के बिना ही होती रहती है, उसे 'स्वतन्त्र नाड़ी-संस्थान' कहते हैं। रक्तसंवहन तथा अन्न का परिपचन ऐसी क्रियाओं का उदाहरण है। इस संस्थान के दो विभाग हैं और दोनों की क्रियाएँ एक दूसरे की विरोधिनी हैं। इन विभागों के नाम 'मध्य-स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान' (Sympathetic nervous system) और 'परिस्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान' (Parasympathetic nervous system) हैं। स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान का नियन्त्रण

मस्तिष्क मूलस्थित 'आज्ञाचक्र' या 'आज्ञाकन्द' नामक दो कन्दों (Thalamus) से होता है।

सुषुम्णा के दोनों पार्श्वों पर, पृष्ठदेश के दोनों ओर नाड़ी-कन्दों की एक-एक शृंखला होती है। ये ही योगियों की 'इड़ा-पिङ्गला' प्रतीत होती है। ये नाड़ीकन्द तथा इनसे निकलनेवाले नाड़ीसूत्र 'मध्य-स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान' कहलाते हैं। नाड़ी-सूत्र सौषुम्णिक-नाड़ियों से मिल जाते हैं।

परिस्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान के सूत्र तृतीय, सप्तम, नवम, दशम तथा एकादश शीर्षण्य नाड़ियों में तथा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अनुत्रिक नाड़ियों (सुषुम्णा काण्ड के त्रिकास्थि के अन्तवर्त्ती भाग से निकली नाड़ियों) में स्थित होते हैं। इस संस्थान की शीर्षण्य नाड़ियों में स्थित विभाग को 'उत्तर परि-स्वतन्त्र-संस्थान' तथा निचले को 'अधर परि-स्वतन्त्र-संस्थान' कहते हैं।

स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान के, इनके अतिरिक्त भी प्रभाव (उत्पत्ति स्थान) है। अन्त्रों, हृदय, बस्ति तथा अन्य अन्तरावयवों में भी नाड़ी-कन्द होते हैं। इनसे निकले सूत्र चक्रवत् व्याप्त होते हैं। योगशास्त्र का 'मणिपुरचक्र' आदि अभिधान इन्हीं का जैसा प्रतीत होता है। ये चक्र मध्य-स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान तथा परिस्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान के पूर्वोक्त केन्द्रों के अधीन रहकर अपने अङ्गों का नियमन करते हैं।

मध्य-स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान के कार्य

इनके कार्य्य निम्न प्रकार हैं :—

पुतली का विकास, स्वेद का स्राव, रोमाञ्च, त्वचा की समवाहिनियों का संकोचन, चुलिका-ग्रंथिका स्राव, हृदय का वेग-वर्धन, रक्तचाप की वृद्धि, क्लोम-शाखाओं का विकास (विस्तार), हृदय की नाड़ियों का विकास, महास्रोतस् के कपाटिकाओं को अवरुद्ध करना, तथा पाक-क्रिया को शिथिल करना एवं बस्ति का शिथिलीकरण। संक्षेप में यह आकस्मिक अवसरों पर, तत्काल अनावश्यक पाक क्रिया को मन्द कर हृदय की गतिवृद्धि आदि द्वारा शरीर को मांसपेशी से होनेवाले कर्मों के लिए तैयार करता है।

परिस्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान के कार्य

ठीक उपर्युक्त के विपरीत है। पुतली का संकोच, लालास्राव की वृद्धि, हृदय का मन्दीकरण, क्लोम-शाखाओं का संकोचन, आमाशय, अन्त्र और अग्न्याशय के रसों का परिवर्त्तन, महास्रोतस् के कपाटों का विशदीकरण, हृदय की नाड़ियों का संकोचन।

प्रत्येक स्वतन्त्र अङ्ग में उक्त दोनों प्रकार की नाड़ियों के प्रतान होते हैं। परिस्थिति के अनुसार मध्य या परिस्वतन्त्र नाड़ी-संस्थान उत्तेजित होकर उन-उन अंगों को समयोचित कार्य के लिये प्रेरित करता है।

शरीर में कार्बनिकाम्ल वायु के एकत्र होने का किंवा एड्रेनेलिन के सूचीवेध का भी वही प्रभाव होता है, जो स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान के उत्तेजित होने का होता है।

नाड़ी-संस्थान और पंचविध वायु

आधुनिक नाड़ी-संस्थान के विवरण को देखने से आयुर्वेदोक्त वायु के पाँच प्रकारों का वर्णन स्पष्ट हो जाता है। जैसे—शीर्षण्य नाड़ियाँ तथा उनमें अनुस्यूत उत्तर स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान के सभी कर्म 'प्राणवायु' के कर्मों के अन्दर आ जाते हैं। सुषुम्णा काण्ड का अनुकटिक (कटि प्रदेश में स्थित) अंश तथा 'अधिवस्तिक' नामक चक्र (Hypogastric plexus) अपान वायु का आश्रय प्रतीत होता है। इनका कार्य उभयमत से मल-मूत्र तथा गर्भ की प्रवृत्ति है। व्यान-वायु का आश्रय शीर्षण्य नाड़ियों को छोड़कर शेष मस्तिष्क सौषुम्णिक नाड़ी-संस्थान प्रतीत होता है। मध्य-स्वतन्त्र-नाड़ी-संस्थान के अंशभूत उत्तर अनुग्रैविक[1] नाड़ी-कंद साक्षात् रूप से, सुषुम्णा काण्ड का अनुग्रिविक[2] भाग, अनु-पृष्ठिक[3] भाग का उपरि अर्धभाग और इन स्थलों से निकली ग्रीवा के ऊपर कण्ठ तथा छाती में महाप्राचीरा-पेशी पर्यन्त स्थित नाड़ियाँ उदान वायु का आश्रय प्रतीत होती है। समान वायु का आश्रय

१—Superior Cervical ganglia.

२—Cervical Part,

३—Thoracic Part.

सुषुम्णा के अनुपृष्ठिक[1] भाग-ऊपरि आधा भाग, अनुपृष्ठिक[2] स्वतन्त्र नाड़ी कन्द, सौरमण्डल,[3] उत्तरान्त्रिक[4] तथा अधरान्त्रिक[5] नामक चक्र तथा पाचकयन्त्रों के नियामक सौषुम्णिक नाड़ियां हैं।

संज्ञा और चेष्टा के वेगों के वहन के अतिरिक्त एक अन्य भी कर्म नाड़ियों के हैं, और वह यह कि ये जिस अंग में जाती हैं, उसकी पुष्टि करती हैं। यदि कोई नाड़ी कट जाय तो उससे व्याप्त अंग क्षीण हो जाता है। आयुर्वेद में वात के कुपित होने से अंगों का क्षीण होना प्रसिद्ध है। अतः इन्हें 'पोषणी नाड़ी' की भी संज्ञा प्राप्त है।

आयुर्वेद तथा अध्यात्म में शरीर को उद्ध्वमूल और अधः-शाखा-वृक्ष की उपमा दी है। इस अध्याय में शरीर के नाड़ी-संस्थान का जो स्वरूप हमने देखा, उससे इस उपमा की अन्वर्थकता सिद्ध हो गई। मस्तिष्क ही शरीर रूप वृक्ष का मूल है। सुषुम्णा प्रकाण्ड तथा उनसे निःसृत नाड़ियां शाखाएँ हैं।

१—Thoracic sympathetic ganglia.

२—Superior mesenteric plexus.

३—Inferior mesenteric plexus.

४—Solar plexus.

५—Trophic Nerves.

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

कलकत्ता, पटना, झाँसी और नागपुर

का

संक्षिप्त परिचय

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का जो उन्नत स्वरूप आज देश के सामने है, इसके पीछे एक गौरवपूर्ण अतीत, एक संघर्षमय जीवन और एक साहसिकतापूर्ण अध्यवसाय का चिरस्मरणीय इतिहास भी है। आज से ३१ साल पूर्व जब इस कारखाने की नींव दी गयी थी तो शायद यह अन्दाज नहीं था कि इस कारखाने का यशगान भारत के गाँव-गाँव, घर-घर और नगर-नगर में होने लगेगा, इसकी औषधियाँ विदेशी औषधियों से टक्कर लेकर उन्हें पराजित करेंगी और देशी चिकित्सा-पद्धति की धाक देश के शिक्षित अशिक्षित सभी लोगों में जमा कर आयुर्वेद के उद्धार का कारण बनेगी।

बैद्यनाथ धाम (देवघर) हिन्दुओं का अति पुनीत, सिद्धपीठ-तीर्थ-स्थान है। बाबा बैद्यनाथ के समक्ष किया गया शुभ-संकल्प कभी विफल नहीं होता। आज भी लाखों नर-नारी बाबा के धाम पर पहुंच कर शुभ-संकल्प करते और मनोरथ की सिद्धि प्राप्त करते हैं। इसी पुनीत तीर्थस्थान में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन की नींव डाल कर आयुर्वेद के उद्धार का जो संकल्प किया गया था, उसी के अनुसार उस महायज्ञ में भगीरथ प्रयत्न किया गया। बाबा के सम्मुख किया गया संकल्प सफल

हुआ। विशुद्ध और असली दवाओं के निर्माण एवं जनताजनार्दन की सेवा के फलस्वरूप श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन एवं उसकी औषधों की पहुंच आज देश के गाँव-गाँव, नगर-नगर और घर-घर में हो चुकी है। बहुत सूक्ष्म रूप में हम उस संगठन का परिचय आपको यहाँ कराना चाहते हैं।

रिसर्च-विभाग

यह विभाग "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" के जन्मकाल के कुछ ही दिन बाद खुल गया था। किन्तु पहले इस काम को काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, गुरुकुल काँगड़ी तथा ऋषिकुल विद्यालयों को आर्थिक सहायता देकर कराया जाता था। किन्तु भगवान की दया से अब गत वर्ष से एक स्वतन्त्र विभाग इसके लिए खोल दिया गया है। वास्तव में यह विभाग ही औषध-निर्माण का आधार है। इस विभाग से "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" को ही नहीं, समस्त आयुर्वेद-जगत को लाभ है।

यह विभाग सारे हिन्दुस्तान के प्रत्येक भाग में अलग-अलग नामों से या एक ही नाम से प्रचलित औषधों और वनस्पतियों को एकत्रित करता है। इस कार्य में हमारी सभी शाखाओं, वेतनभोगी कर्मचारियों, कमीशन-एजेण्टों और दवा-विक्रेताओं के अलावा स्वतन्त्र वैद्य, डाक्टर, सरकारी जंगलात व कृषि-विभागों से भरपूर सहायता मिलती है।

वनौषधियों की छानबीन के लिए भारत के ख्यातनामा वनौषधि-विशेषज्ञ, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी के प्रोफेसर ठाकुर बलवन्त सिंह, एम० एस०-सी०, आयुर्वेदाचार्य के नायकत्व में विशेषज्ञों की एक टोली बिहार के जंगलों का दौरा कर रही है। ठाकुर बलवन्त सिंह भारत के गिने हुए चार-पाँच सर्वश्रेष्ठ वनौषधिशास्त्र वेत्ताओं (Botanists) में से एक हैं। इन विशेषज्ञों की खोज के बाद जो महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट छप कर

तैयार होगी, वह आयुर्वेद-जगत को "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" की एक अमूल्य देन होगी।

आज इस बात की जरूरत है कि भारत के भिन्न-भिन्न भागों से ढूँढ-ढूँढ कर वनौषधियों को निकाला जाय, उनसे औषध-निर्माण कार्य को सुसम्पन्न और परिपूर्ण बनाया जाय। विदेशी औषधों का आधार मुख्यतः खनिज धातुएँ हैं, क्योंकि उन्हें ताजी वनौषधियाँ उपलब्ध नहीं, पर आयुर्वेदीय औषधों का प्रधान आधार तो वनौषधियाँ ही हैं जो रोग-नाशक शक्तियों और स्वास्थ्यदायक गुणों में अद्वितीय हैं एवं शरीर को हानि पहुंचानेवाले दुर्गुणों से मुक्त हैं। इसलिए हमारे रिसर्च-विभाग ने इस कार्य को बड़े पैमाने पर शुरू किया है। हमारी विस्तृत योजना के अनुसार शीघ्र ही ५० हजार रुपये प्रतिवर्ष खर्चकर आतुरालय और रिसर्च-भवन खोला जायगा जिसमें सभी मूलद्रव्यों का वैज्ञानिक परीक्षण होगा। इस कार्य से समस्त औषध-निर्माण-जगत लाभान्वित होगा।

वनौषधि-बिक्री-विभाग

असली वनौषधियों के अभाव में आयुर्वेदीय औषधों के निर्माण में कितनी कठिनाई होती है, यह सभी वैद्य जानते हैं। जब हमारे जैसे साधन-सम्पन्न कारखाने को इस कार्य में कठिनाई होती है तो छोटे पैमाने पर औषध बनानेवाले वैद्य के लिए तो असली वनौषधियों का प्राप्त करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। नतीजा यह होता है कि असली वनौषधियों के अभाव में बाजारू नकली चीजों पर निर्भर रहना पड़ता है। फलतः शुद्ध औषधों के नहीं प्रस्तुत होने से आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति एवं वैद्य की शिकायत होती है। इसलिए "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" ने औषध बनानेवालों को असली वनौषधि प्राप्त करने में सुविधा देने के विचार से इस विभाग को खोला है। उचित मूल्य पर ताजा और असली वनौषधि देना इस विभाग का काम है। इस विभाग के द्वारा

थोक भाव से बिक्री की जाती है। जिन लोगों को अधिक परिमाण में वनौषधियां चाहिए उन्हें हमारे इस विभाग से पत्र-व्यवहार करना चाहिए।

परीक्षण-विभाग

इसमें इकट्ठी की हुई जड़ी-बूटियाँ, असिद्ध खनिज एवं औषध निर्माण काम में आनेवाली अन्य वस्तुओं का परीक्षण स्वयं अपने प्रयोगशाला में अनुभवी और योग्य वैद्यों और रसायन-शास्त्रियों द्वारा किया जाता है। अन्यान्य सार्वजनिक शिक्षण-संस्थाओं को नियमित रिसर्च कार्य के लिये आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन भी इस विभाग द्वारा दिया जाता है।

औषध-निर्माण-विभाग

इस विभाग में विशेषज्ञ-आयुर्वेदाचार्यों और निर्माणकुशल वैद्यशास्त्रियों का एक पूरा दल काम करता है; जिनको देख-रेख में औषधों का शुद्ध शास्त्रीय रीति से निर्माण होता है और निर्माण की अवस्था में भवन के मालिक लोग जो स्वयं औषध-विज्ञान के कुशल ज्ञाता हैं, उपस्थित रहकर निरीक्षण करते हैं। साथ ही इस विभाग को दूसरे विभागों के विशेषज्ञों की सहायता भी मिलती है। इस प्रकार इस विभाग के सुन्दर संगठन और उचित देख-रेख का ही फल है कि आज "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" की बनी हुई औषधें सबसे अच्छी और असली समझी जाती हैं।

निर्माण विभाग का प्रबन्ध और विशुद्धता के कारण ही असली औषध की पंक्ति में बैद्यनाथ औषधें सबसे आगे हैं। देश के बड़े-बड़े नेताओं, विद्वानों और वैद्यों ने हमारी औषधों की विशुद्धता की केवल प्रशंसा ही नहीं की है बल्कि स्वयम् बैद्यनाथ दवाओं का व्यवहार कर उसकी असलियत का अनुभव किया है। यही कारण है कि हमारी दवाओं की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और इतनी बढ़ी कि एक स्थान से

सारे देश में माल भेजना कठिन हो गया। इसलिये कलकत्ता, पटना, झाँसी और नागपुर चार स्थानों में औषध-निर्माण के लिए वृहत् केन्द्र खोलने पड़े। खनिज द्रव्यों एवं वनौषधियों की प्राप्ति, आवश्यक जल-वायु का सुपास एवं निर्माण की सुगमता के खयाल से भी भिन्न-भिन्न स्थानों में निर्माणशाला का खोलना आवश्यक हुआ।

"श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" ने अपनी निर्माणशालाओं की सुव्यवस्था के कारण आयुर्वेदीय औषधों का उत्तम स्टैण्डर्ड कायम करने में अभूतपूर्व सफलता पायी है। इसलिए भारतवर्ष में हमारी निर्माणशाला को लोग आदर्श मानते हैं।

पैकिंग-विभाग

दवाओं की सुन्दर और साफ पैकिङ्ग के लिए भी श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० प्रसिद्ध है। यह हमारे पैकिङ्ग-विभाग के सुन्दर प्रबन्ध का ही फल है। सुन्दर और साफ पात्रों में दवा रखने और उनकी हिफाजत के लिए सुन्दर पैकिङ्ग करने से दवाएँ बहुत दिनों तक बिगड़ने नहीं पातीं और उनके गुण बरकरार रहते हैं। साथ ही वर्तमान समय में औषधों की सुन्दर पैकिङ्ग का भी एक खास महत्त्व है। "श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" के पैकिङ्ग-विभाग ने इस दिशा में क्रान्ति की है।

दवा की सच्ची तौल, लेबुल आदि लगाने की सफाई उतनी ही अच्छी है, जितनी श्रेष्ठ इसकी दवा है।

आर्डर-सप्लाई-विभाग

हमारी औषधों की मांग जिस तेजी के साथ बढ़ी और जितने बड़े-बड़े आर्डर हमारे पास आने लगे हैं यदि सप्लाई-विभाग का संगठन उत्तम नहीं रहता तो इतनी खूबी से हम देश के कोने-कोने में माल पहुंचाने में सफल नहीं होते।

हमारा यह विभाग पूर्णरूपेण सुसंगठित है। एजेन्सियों से आनेवाली दवाओं की मांग को ठीक-ठीक जाँचकर भेजना इस विभाग का काम है।

प्रबन्ध-विभाग

सारे कारखाने का व्यवस्थित रहना, हर अङ्ग का ठीक से काम करना प्रबन्ध-विभाग पर ही निर्भर करता है। हमने शुरू से ही प्रबन्ध की उत्तमता पर ध्यान रखा है। प्रबन्ध की उत्तमता योग्य कर्मचारी-मण्डल तथा मालिकों की सतत देख-रेख पर निर्भर करती है। इस विभाग में योग्य कर्मचारी-मण्डल (Staff) के ऊपर मैनेजर, सहायक मैनेजर एवं निरीक्षक हैं, जिससे प्रबन्ध की उत्तमता के विषय में भी हमारा कारखाना सर्वश्रेष्ठ है।

एकाउन्ट्स-विभाग

इस विभाग में कारखाने के आमद-खर्च का पैसे-पैसे का हिसाब रखने के लिए योग्य मुनीमों और एकाउन्टेन्टों का एक बहुत बड़ा समूह काम करता है।

प्रचार-विभाग

हमारी औषधों के असली प्रचारक तो उनके ग्राहक ही हैं। जो आदमी एकबार दवा ले जाता है वह स्वयम् तो बैद्यनाथ दवाओं का भक्त बन ही जाता है, वह उन औषधों के बारे में चारों ओर प्रचार भी करता है। बैद्यनाथ औषधों के घर-घर प्रचलित होने का असली कारण यही है। लेकिन फिर भी हमारी असली दवाओं की लोगों को जानकारी हो जाय और नकली दवाओं और नकालों से बचे रहें इसलिए हमारा यह विभाग पञ्चाङ्ग, ट्रैक्ट, हैण्डबिल, पोस्टर तथा दूसरे-दूसरे प्रकार के साहित्यों के जरिये प्रचार करता है।

प्रेस व प्रकाशन-विभाग

आयुर्वेदीय ग्रन्थों एवं लेबुल, सेवनविधि तथा प्रचार-विभाग के साहित्य की छपाई का काम इतना अधिक हमारे यहाँ होता है कि उसके लिये एक बड़ा प्रेस खोलने का प्रबन्ध करना पड़ा। उस प्रेस का कर्मचारीमण्डल (Staff) भी बड़ा ही योग्य और अनुभवशील है। हमारे प्रकाशन-विभाग द्वारा प्रकाशित "सचित्र आयुर्वेद" नामक मासिक पत्र आयुर्वेद का सर्वश्रेष्ठ पत्र समझा जाता है। हमारे इसी विभाग द्वारा प्रकाशित आयुर्वेद के उत्तमोत्तम ग्रन्थ आज आयुर्वेद-साहित्य का भण्डार भर रहे हैं।

स्वास्थ्य-रक्षा एवं धर्मार्थ-विभाग

इस विभाग का काम है जगह-जगह आवश्यकतानुसार धर्मार्थ औषधालय खोलना तथा अन्य उपायों से जैसे पीड़ित-क्षेत्रों में औषध और वैद्य भेज कर—दुःखी एवं असहाय प्राणियों की सेवा करना। इसके अलावा हमारे वैद्य मुहल्ले-मुहल्ले तथा गाँव-गाँव में घूम-घूम कर आयुर्वेदीय स्वास्थ्य-रक्षा का प्रचार करते तथा तत्सम्बन्धी साहित्य एवं संयम-नियम, भोजन के बारे में छपा चार्ट बाँटते हैं, ताकि लोग उन नियमों पर चलकर बीमार न होने पावें।

इस विभाग का यह काम है कि वह इस बात का यत्न करे कि लोग स्वास्थ्य के नियमों का पालन कर स्वस्थ रहें।

एजेन्सी और बिक्री-विभाग

सारे देश में हमारे ४६ से भी अधिक बिक्री केन्द्र और १४ हजार से अधिक एजेन्सियाँ हैं। इनका अलग अलग हिसाब-किताब तथा रेकार्ड रखने के लिए एक खास विभाग है जिसमें योग्य कार्यकर्त्ता काम करते हैं।

नयी एजेन्सी

नयी एजेन्सी के लिये चिट्ठी, रजिस्ट्री तथा तार का हमारे आफिस में ताँता-सा बंधा रहता है। इसके अलावे हमारे प्रत्येक कार्यालय में प्रतिदिन दो चार सज्जन रेल किराया खर्च करके सिर्फ इसी काम के लिये आते रहते हैं। ऐसे सज्जनों को सुविधा के लिये हम यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि उनके यहाँ से हमारा कलकत्ता, पटना, झांसी या नागपुर का जो कार्यालय नजदीक पड़ता हो उसी कार्यालय से पत्र व्यवहार करना चाहिये। नयी एजेन्सी के लिये पत्र आने पर सर्व प्रथम "संक्षिप्त परिचय" नाम की पुस्तिका उनके पास तत्काल भेज दी जाती है। उस पुस्तिका को पढ़ने से एजेन्सी सम्बन्धी मोटामोटी जानकारी हो जाती है। "संक्षिप्त परिचय" पुस्तिका के साथ ही एक छपा फार्म भी भेजा जाता है जिसमें लिखे प्रश्नों का उत्तर आने पर ही यह निश्चय किया जाता है कि अमुक स्थान में एजेन्सी दी जायगी या नहीं। जहाँ की एजेन्सी देनी होती है उनके पास पूरी जानकारी के लिये एजेन्सी नियम तथा एजेण्ट बनने सम्बन्धी अन्य आवश्यक साहित्य भेज दिये जाते हैं और इसके अनुसार आर्डर आदि आने पर एजेन्सी कायम करके माल भेज दिया जाता है और उनका नाम बैद्यनाथ के अधिकार प्राप्त एजेण्टों में लिख लिया जाता है। हिन्दुस्तान के सभी मुख्य-मुख्य शहरों, कस्बों तथा देहातों में हमारे एजेण्ट मौजूद हैं और हमारी दवाओं की एजेन्सी की बदौलत आर्थिक लाभ के साथ ही साथ नाम और यश भी कमा रहे हैं।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के कुछ उल्लेखनीय प्रयत्न

(१) भवन की बिक्री पर ज्यादे-से-ज्यादे ५) रु० सैकड़ा के अलावा बाकी सब आयुर्वेद की उन्नति में खर्च होता है और होता रहेगा। आयुर्वेद की दवाइयां सर्वोत्तम बनाने (रिसर्च) में ही सबसे ज्यादे खर्च होता है।

(२) राष्ट्रोन्नति और सेवा भावना से आयुर्वेद की दवा बनानेवालों को पूर्ण प्रोत्साहन दिया जाता है। बहुत बड़ी तादाद में आयुर्वेद की दवाइयाँ किस तरह बनानी चाहिये तथा वे निश्चित गुणकारी कैसे हो सकती हैं, उनको वर्तमान रुचि के अनुकूल कैसे बनाया जा सकता है, इत्यादि हमारा महत्त्वपूर्ण अनुभव वे खुद देख कर जान सकते हैं। हिन्दुस्तान के स्वतन्त्र होने के बाद नये राष्ट्र का निर्माण हो रहा है, उसमें आयुर्वेदीय-चिकित्सा प्रणाली को सुन्दर अवसर मिलनेवाला है। दवाओं के निर्माण के वृहद् आयोजन द्वारा ही हम डाक्टरी दवाओं तथा चिकित्सा से लड़कर उन्हें इस देश से खतम कर राष्ट्रीय चिकित्सा के आसन पर आयुर्वेद को बैठा सकते हैं। "श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" इसके लिये सतत प्रयत्नशील रहता है।

(३) आयुर्वेद विद्यालयों से निकलनेवाले वैद्य पूर्ण विद्वान और सेवा भावयुक्त हों—इस के लिये आर्थिक सहायता और छात्र वृत्तियां पहले से ज्यादे कर दी गई हैं। बिहार गवर्नमेंट और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग की प्रबन्ध सदस्यता हमने इसी उद्देश्यसे स्वीकार की है।

(४) आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों के आधार पर डाक्टरी के टक्कर की पाठ्य पुस्तकें प्रस्तुत करने के उद्देश्य से "शरीर-क्रिया-विज्ञान" और "पदार्थ-विज्ञान" "मानसरोग-विज्ञान" "सिद्धयोग-संग्रह" "आरोग्य-प्रकाश" आदि ग्रन्थों का प्रकाशन भी इसी उद्देश्य से हुआ है। आरोग्यप्रकाश का तो ऐसा प्रचार हुआ कि देखते-देखते उसके सात संस्करणों में ५६००० कापियाँ बिक गयीं और आठवें संस्करण में १५००० कापी फिर छापी गयी हैं। सिद्धयोग संग्रह का तीसरा संस्करण छपा है और शरीर-क्रिया-विज्ञान का द्वितीय संस्करण 'आयुर्वेदीय क्रिया शारीर' के नाम से छप रहा है। ये भी आयुर्वेद के सर्वोत्तम ग्रन्थ माने गये हैं।

(५) यूनानी चिकित्सा भी हमारे लिये उपयोगी है। पूर्ण अधिकारी विद्वान द्वारा राष्ट्र-भाषा में "यूनानी सिद्धयोग-संग्रह" लिखवा कर इस अभाव की पूर्ति की गई है।

(६) भारतीयों की तन्दुरुस्ती का सुधार आयुर्वेद के आधार से ही हो सकता है—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये "सचित्र आयुर्वेद" नाम का मासिक पत्र प्रकाशित कर रहे हैं। 'पथ्यापथ्य' 'किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य' आदि सरीखी पुस्तकें तथा छोटे-छोटे ट्रैक्ट भी प्रकाशित होते रहते हैं।

(७) अपने धर्मार्थ आयुर्वेदीय दवाखानों की संख्या अब चार हो गई हैं। यहाँ गरीब रोगियों को उत्तम दवा ही मुफ्त नहीं दी जाती, बल्कि पथ्य भी मुफ्त दिया जाता है। हर जगह स्वास्थ्य-रक्षा-केन्द्र भी खोले गये हैं।

(८) धर्मार्थ दवाखानों को हमारे यहाँ से लागत मूल्य में दवा दी जाती थी ; अब प्रमाणित धर्मार्थ दवाखानों को मुफ्त दवा भेजने का भी प्रबन्ध किया गया है।

(९) हैजा, महामारी, मलेरिया, बाढ़ आदि से पीड़ित प्राणियों की सेवा के लिये १ वैद्य, २ कम्पाउण्डर, और दो नौकरों की एक मंडली संगठित की गई है जो पर्व, मेले आदि पर भी सेवा करने जाती है। इसके अलावे इन स्थानों में बीमारियों से बचने के उपाय छपवाकर काफीतायदाद में बँटवाए जाते हैं।

(१०) हर वर्ष हमारे सभी कारखानों एवं बिक्री-केन्द्रों में श्री धन्वन्तरि जयन्ती मनायी जाती हैं, जिसमें हजारों वैद्य भाग लेते हैं। करीब दस हजाररुपये हर साल इसमें खर्च किये जाते हैं। वैद्यों में भ्रातृभाव और संगठन के लिये इनका अधिक प्रचार करने की हमारी योजना है।

हमारा प्रकाशन

हमारा कारखाना दवाफरोश नहीं है। यह शुद्ध अर्थ में आयुर्वेदीय संस्था है। इसका प्रथम उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद को पुनरुज्जीवित कर उसके समग्र मानव कल्याणकारी गुणों, उसकी विशेषताओं और चमत्कारों की जानकारी जनता को करा देना। औषध और ग्रन्थ दोनों इसके साधन हैं। इसलिए एक ओर जहाँ हम उत्तमोत्तम औषध-निर्माण द्वारा आयुर्वेद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं, तहाँ दूसरी ओर उसके दूसरे अंग उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन का भी समुचित प्रबन्ध करते हैं। जिन ग्रन्थों का प्रकाशन कर हम आयुर्वेद का भण्डार भर रहे हैं उनकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से समस्त देश की विद्वद्मंडली ने की है। साथ ही साथ कम से कम—यानी लागत मात्र—मूल्य पर ऊँचे दर्जे के आयुर्वेदीय साहित्य का प्रचार-प्रसार करना बैद्यनाथ-प्रकाशन का मूल सिद्धान्त रहा है। यही कारण है कि बैद्यनाथ-प्रकाशन से निकली हुई उत्तम आयुर्वेदीय पुस्तकों का आज घर-घर में प्रचार है। हमारे "आरोग्य-प्रकाश" को तो जनता ने इतना पसन्द किया कि उसके सात संस्करणों में ५६००० प्रतियाँ छप कर हाथों-हाथ बिक चुकी हैं। आठवां संस्करण पन्द्रह हजार का जो छपा था, वह भी प्रायः समाप्त हो चुका है और नवां संस्करण शीघ्र ही छप रहा है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों के भी कई-कई संस्करण छप चुके हैं।

आरोग्य प्रकाश—आरोग्य, स्वच्छता और चिकित्सा पर सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ।—भारत प्रसिद्ध श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के मैनेजिंग डाइरेक्टर वैद्यराज पं० रामनारायण वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्ष में बड़ी मेहनत

से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वार्द्ध के विषयों को पढ़कर और तदनुसार चलकर सदा बीमार रहनेवाला रोगी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि बड़ी ही सरल भाषा में लिखे हैं जो पढ़कर विद्वान से लेकर साधारण पढ़े लिखे दोनों समान भाग से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुसखे लिखे गये हैं वे बहुत बार के परीक्षित कभी भी फेल न होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात—सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुंचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है ; क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके सात संस्करणों में ५६००० प्रतियां छपकर बिक चुकी है और यह आठवां संस्करण १५ हजार का अब समाप्त हो रहा है। इससे इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यह कहा जाय, तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ५१५ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य सिर्फ १॥।), डाकखर्च ॥=), हमारी चार निर्माणशालाओं ४६ बिक्री केन्द्रों, १४००० एजेन्सियों से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रति लेने से डाकखर्च नहीं लगेगा।

आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर (सचित्र)—लेखक वैद्य रणजीत राय, वाइस प्रिंसिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय सूरत, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित "शरीर क्रिया विज्ञान" का देश में सर्वत्र ही समादर हुआ था और प्रायः समग्र हिन्दुस्तान के आयुर्वेदिक कालेजों के पाठ्यक्रम में पुस्तक नियत हो गयी थी। उसी का यह संशोधित और परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण छप रहा है।

आयुर्वेद की इस पुनरुत्थान बेला में वैद्य रणजित राय जो स्तुत्य और ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य कर रहे हैं, उसे आज हिन्दुस्तान में कौन नहीं जानता ? आयुर्वेद के संशोधन को दृष्टि में रख कर उन्होंने जो अनेक ग्रन्थरत्न लिखे हैं, उन्हीं में से एक यह ग्रन्थ (आयुर्वेदीय क्रियाशारीर) है।

प्रस्तुत संस्करण में पाठ्य विषय में तो पहले संस्करण की अपेक्षा बहुत परिवर्द्धन किये ही गये हैं, अनेक रंगीन और एकरंगे चित्रों की भी संख्या में वृद्धि कर, विषय को अधिक सुबोध बनाकर पुस्तक की उपयोगिता में और भी अधिक वृद्धि कर दी गयी है।

द्रव्य-गुण-विज्ञान—(परिभाषा खण्ड)—आयुर्वेद मार्तण्ड आचार्य श्री यादवजी त्रिकमजी (बम्बई) द्वारा लिखित और प्रकाशित। इस ग्रन्थ के बारे में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही है। मूल्य—सजिल्द ३॥)

पदार्थविज्ञान—(देश भर की आयुर्वेदीय संस्थाओं एवं परीक्षा-बोर्डों के पाठ्यक्रम में स्वीकृत) लेखक—पं० रामरक्ष पाठक, प्रिन्सिपल अ० शि० आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में प्रमाण का तुलनात्मक विवेचन किया गया है और द्वितीय अध्याय में स्वास्थ्य-रक्षण तथा रोग के प्रतीकारार्थ उपयोग में आनेवाले पदार्थों का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में आयुर्वेद के मूल-भूत त्रिदोष सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत तत्त्वों की छान-बीन की गई है। चतुर्थ अध्याय में आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि पूर्व जन्मकृत पापों का परिणाम भोगने के लिये किस प्रकार सगुण आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में प्रवेश कर अपने कर्मों का भोग करता है। मूल्य—३॥)

यूनानी सिद्धयोग-संग्रह—यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। इसके नुस्खे आयुर्वेदीय नुस्खों की भाँति ही लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। एक अनुभवी

चिकित्सक से यह ग्रन्थ लिखवाया गया है। चिकित्सकों तथा सर्व-साधारण दोनों के लिये बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य—२॥)

सिद्धयोग-संग्रह (तीसरा संस्करण)—आयुर्वेदोद्धारक श्री यादवजी त्रिकमजी के करकमलों से लिखा हुआ यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ-रत्न के पढ़ने से प्रत्येक वैद्य को लाभ होगा, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है। मूल्य—सजिल्द २॥।)

आयुर्वेद-सार-संग्रह—हिन्दी में ऐसी आयुर्वेदीय पुस्तकों की बहुत कमी थी, जिनमें एकत्र रोग-विचार के साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझा कर सरल भाषा में दिया हो। इससे सर्वसाधारण पाठकों के सामने बहुत दिक्कतें आती रहती थीं। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेदीय साहित्य की इसी कमी को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। श्री वैद्य० आ० भ० लि० द्वारा बनाई जानेवाली सभी दवाओं की निर्माण-विधि तथा उनके गुणधर्म और प्रयोग-विधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तार वर्णन सरल हिन्दी भाषा में किया गया है। रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिये गये हैं; जिसके देखने से औषध-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। मूल्य—६)

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान—लेखक—वैद्य रणजितराय, वाइस-प्रिन्सिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत। आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान में अन्य दर्शनग्रन्थों से क्या विशेषता है और क्यों है, इस पर प्रकाश डालते हुए आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान के सभी विषय सरल भाषा में समझाये गये हैं।

आधुनिक अन्वेषित मूल तत्त्वों के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वों का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिये, इस विषय में यथास्थान विद्वान् लेखक ने स्वमत-प्रकाशन किया है। आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विषयों का आधारभूत है, अतः उसका

अध्यापन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विशद विवेचन करते हुए विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है। मूल्य—५)

मानस-रोग-विज्ञान—इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक स्वर्गीय डा० बालकृष्णजी अमरजी पाठक ने बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के अध्यक्ष एवं प्रधान अध्यापक के रूप में काफी कीर्ति प्राप्त की थी और एक उच्च कोटि के विचारक और उद्भट मनीषी के रूप आप सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध हो गये थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रूपरेखा पूज्यपाद यादवजी ने तैयार की थी और इस विषय पर आयुर्वेदीय साहित्य में खटकनेवाली जबर्दस्त कमी को पूरा करने के उद्देश्य से डा० पाठक जैसे अनुभवी अध्यापक और विद्वान् वैद्य को यह ग्रन्थ लिखने के लिए उत्साहित किया था।

आज के युग में, जब कि काम, क्रोध आदि तथा मिरगी (अपस्मार), उन्माद, न्यूरेस्थीनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि मानसिक रोग मनुष्य जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देती है। अनुभवी लेखक की मंजी हुई लेखनी और तीक्ष्ण तर्कों ने प्रस्तुत पुस्तक के विषयों पर उपयुक्त सामग्री का सुन्दर और अधिकारपूर्ण रूप से सम्पादन किया है। हमारा विश्वास है कि वैद्य-समाज, आयुर्वेद के शिक्षक और विद्यार्थी तथा साथ ही साथ सर्वसाधारण जनता के लिए भी यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी होगा। मूल्य—५॥) मात्र।

उपचार-पद्धति (चतुर्थ संस्करण)—सर्वसाधारण गृहस्थ के सैकड़ों रुपये प्रति वर्ष बच सकते हैं, यदि उन्हें उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान भी हो जाय; और इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर इस पुस्तक का प्रकाशन हमने किया है। इसमें रोगियों की परिचर्या का शास्त्रीय और अनुभूत विवेचन दिया गया है। मूल्य—।।।=) मात्र।

किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य—किशोर-बालकों को हस्तमैथुन-रूपी सर्वस्व नाशकारी व्याधि से बचाने के लिए सफल उद्योग किया गया है। बालक को इसके पढ़ा देने के बाद संरक्षक इस चिन्ता से निश्चिन्त हो सकते हैं। पृष्ठ संख्या ११० ; मूल्य—।≡)

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library
मसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०
Acc. No.....

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

H
615.536
पाठक

अवाप्ति सं. 14101
ACC No.....

वर्ग सं. पुस्तक सं.
Class No..... Book No.....
लेखक

H
615.536
पाठक

14101

LIBRARY
LAL BAHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No. 125781

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving